कालिदास एवम् उनका अभिज्ञानशाकुन्तल

डॉ० राजदेव मिश्र

कालिदास एवम् उनका अभिज्ञानशाकुन्तल

डॉ० राजदेव मिश्र

कालिदास
एवम्
उनका अभिज्ञानशाकुन्तल

लेखक
डॉ० राजदेव मिश्र
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

शारदा प्रकाशन
फैजाबाद

प्रकाशक–
शारदा प्रकाशन
आलोकपुरी (नयी कालोनी)
नियावाँ रोड
फैजाबाद
फोन – (०५२७८) २०२३३

मूल्य – एक सौ पचहत्तर रुपये मात्र (१७५/–)

मुद्रक
सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी, वाराणसी
फोन – (०५४२) २११०९२

दो शब्द

कालिदास जैसे महाकवि तथा अभिज्ञानशाकुन्तल जैसी उनकी लोकविश्रुत काव्य-कृति के विषय में कुछ लिखना कठिन कार्य है, इस तथ्य को जानते हुये भी मैं इस कृति की रचना में इसलिये प्रवृत्त हुआ क्योंकि एतदर्थ मेरे अन्तः करण की भावना एवं मेरे शुभेच्छुओं की प्रेरणा मेरे ऊपर साधार प्रभावशाली रही। प्रस्तुत पुस्तक में कालिदास के जीवन वृत्त, कर्तृत्व एवं स्थिति काल आदि के विषय में प्रकाश डालने के अनन्तर उनकी रचना अभिज्ञानशाकुन्तल की सर्वाङ्गीण मीमांसा पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

'शाकुन्तलम्' की कथावस्तु, उसकी वस्तुसंघटना, रस-अलङ्कार-योजना, नाट्य-शैली प्रकृति चित्रण, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि की मीमां करने के साथ ही उनके काव्यवैशिष्टय तथा शाकुन्तल से सम्बद्ध प्रख्यात प्रशस्तियों को भी विचार पथ पर लाया गया है।

मेरे इस प्रयास से सुधी एवं जिज्ञासु पाठकों को यदि किञ्चिन्मात्र भी सारस्वत-यात्रा-सम्बल मिल सका तो मैं अपने प्रयास को कृतार्थ मानूँगा।

इस कृति को आकार प्रदान करने हेतु पाण्डुलिपि तैयार करने में डॉ०(कु०) शुचिता राय, प्रूफ संशोधन में डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी तथा मुद्रण कार्य में डॉ० दर्शनानन्द की भूमिका प्रशस्य रही है। अतः उक्त तीनों जनों को स्नेहाशीर्वाद देना मेरा परम कर्त्तव्य है।

पुस्तक के विषय में विद्वज्जनों के किसी भी सत्परामर्श का स्वागत करूँगा।

विजया दशमी
वि०सं० २०५६
१८ अक्टूबर, १९९९ ई०
फैजाबाद।

विनीत
राजदेव मिश्र

विषयानुक्रम

पृष्ठ



कालिदास एवं उनका अभिज्ञानशाकुन्तल

संस्कृत-साहित्य

व्यापकता एवं सर्वाङ्गीणता

संस्कृत-साहित्य जैसा विशाल एवं सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य संसार की किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है। इसकी विशालता एवं सर्वाङ्गीणता को समझने के लिए चारों वेदों, उपवेदों, व्याकरण, ज्योतिष आदि छः वेदाङ्गों, माण्डूक्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों, आरण्यकों, पुराणों, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसा, सांख्य-योगादि षड्दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य के सभी अङ्गों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, चम्पूकाव्यों, कथा तथा नाट्यशास्त्र, दशरूपक, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से परिचय पाना आवश्यक है। इतना ही नहीं इधर आधुनिक काल में भी शतशः महाकाव्यों, गीतकाव्यों, नाटकों, लघुकथाओं की रचनायें हुई हैं और आज भी हो रही हैं; अतः उन्हें भी दृष्टिगत करना आवश्यक है। इन सबका आकलन कर लेने के पश्चात् संस्कृत-साहित्य की व्यापकता तथा विशालता स्पष्ट हो जाती है और संस्कृत को मृत भाषा कहने वालों की धारणा स्वतः धराशायी हो जाती है।

संस्कृत-साहित्य में मानव के लिए निर्धारित चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से हुआ है। 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः' का उद्घोष करने वाले संस्कृत-वाङ्मय में 'अर्थ अथवा काम की उपेक्षा हुयी है'– इस प्रकार की धारणा निर्मूल ही है।

वस्तुतः संस्कृत-साहित्य में आध्यात्मिक अभ्युत्थान के साधन श्रेय तथा भौतिक विकास के साधन प्रेय दोनों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

काव्यवैभव

संस्कृत का काव्यवैभव अत्यन्त उदात्त, प्राञ्जल, सर्वाङ्गपूर्ण एवं गतिशील है। कवि के कर्म को 'काव्य' कहा जाता है–'कवेः कर्म काव्यम्।' कवि अपार काव्य संसार का स्रष्टा है और उसका कर्म (काव्यसृष्टि) भी अलौकिक गुणों से विभूषित है—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः"।

कवि में दर्शन एवं वर्णन दोनों की अनुपम क्षमता होती है। वह अपने प्रातिभ चक्षु से न केवल वर्तमान अपितु अतीत, अनागत, व्यवहित-अव्यवहित सभी पदार्थों का

सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यवेक्षण करने में समर्थ होता है। इसीलिए वह क्रान्तिदर्शी कहलाता है और उसके लिये यह उक्ति चरितार्थ होती है 'यत्र न रविः तत्र कविः'। यह 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' ही उसकी अनुभूति है। इस अनुभूति को जब वह अपनी अलौकिक वर्णना के द्वारा वाणी का कलेवर प्रदान करता है तब वही (अनुभूति) वर्णित होकर झटिति काव्य की पदवी को प्राप्त कर लेती है।

कवि की इसी वर्णना-शक्ति को लक्ष्य कर मम्मट ने लोकोत्तरवर्णना में निपुण कवि के कर्म को 'काव्य' संज्ञा प्रदान की है—

''काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म''–काव्यप्रकाश, १.२, वृत्ति

संस्कृत की मौलिकता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता के विषय में इतना कहना प्रासङ्गिक यथार्थ है कि संस्कृत-साहित्य प्रत्येक क्षेत्र में विकास की चरमावस्था को प्राप्त कर चुका है। पर विशाल सागर स्वरूप उसके जिस रत्नविशेष ने उसकी कीर्ति में चार चाँद लगाये हैं, वह है उसका काव्यवैभव। अपने इसी काव्यात्मक वैभव के कारण संस्कृत-साहित्य भारतीय तथा अभारतीय उभयविध विद्वानों की प्रशंसा का भाजन बना हुआ है। निस्सन्देह संस्कृत-साहित्य काव्य की सभी धाराओं के चमत्कारात्मक सौन्दर्य से मण्डित है। संस्कृत कवियों ने जिस कविता-कामिनी की सृष्टि की है वह अपनी स्वर-माधुरी, संगीतात्मक प्रवाह, पदलालित्य तथा भावव्यञ्जना के द्वारा सदियों से सहृदयों के सरस हृदय को हठात् अपनी ओर खींचकर उसे रससिक्त कर रही है। सम्प्रति यहाँ पर संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है। संस्कृत के जिन कवियों की अनुपम एवं रससिक्त रचनाओं ने उसके माहात्म्य का देश-विदेश में जयघोष गुञ्जित किया है, उनमें महाकवि कालिदास सर्ववरेण्य हैं।

यद्यपि संस्कृत-काव्य जगत् को गौरवास्पद एवं सहृदय-हृदय-वन्द्य बनाने में अनेक महाकवियों का स्तुत्य योगदान रहा है, पर व्यास एवं वाल्मीकि के पश्चात् उसको उच्चता की पराभूमि में प्रतिष्ठित करने का प्रधान श्रेय महाकवि कालिदास को ही है। महाकवि कालिदास सदियों से संस्कृत काव्यवैभव एवं भारतीय प्रतिभा-प्रतिष्ठा की पहचान बन गये हैं। सम्प्रति भारत के साथ ही पाश्चात्त्य जगत् में संस्कृत काव्यलोक की जो दिग्दिगन्तव्यापिनी सारस्वत कीर्ति प्रसृत है उसमें इस महाकविका अविस्मरणीय योगदान है। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं दृश्य काव्य इन तीनों क्षेत्रों में अतुल यश प्राप्त किया है। इस दृष्टि से उनकी सभी रचनायें सरस, वरेण्य एवं रस संचार में सर्वथा समर्थ है। रघुवंश जैसा यशस्वी महाकाव्य, मेघदूत जैसा हृदयावर्जक खण्डकाव्य एवम् अभिज्ञानशाकुन्तल जैसा विश्ववन्द्य नाटक अन्य और किस कवि का हो सकता है।

■

महाकवि कालिदास

प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में जीवनी का कोई महत्त्व नहीं था। उनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य अपने जीवनवृत्त से नहीं प्रत्युत अपनी कीर्ति से अजर-अमर होता है—'कीर्तिर्यस्य स जीवति'। कीर्ति की आधारशिला कृति होती है क्योंकि अनुपम कृति के द्वारा ही मनुष्य विमल कीर्ति को प्राप्त करता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने एक ओर जहाँ अपनी रचनाओं में प्रतिपाद्य विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों के विवेचन एवं विश्लेषण में अपना जीवन बिताया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने जीवनवृत्त के विषय में स्वयं कुछ भी लिखने का प्रयास नहीं किया। पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में यह भले ही भारतीय मनीषियों की अदूरदर्शिता रही हो पर यदि वे भारतीय विचारकों की वास्तविक दृष्टि को समझने का प्रयास करें तो उन्हें स्वयं अपनी ही अदूरदर्शिता पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" की परम्परा में पलने वाले महाकवि कालिदास उक्त भारतीय परम्परा के अपवाद कैसे हो सकते थे ? उन्होंने अपनी जीवनी के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा। फलतः आज उनके जीवन-वृत्त, स्थितिकाल आदि के विषय में गहन मन्थन एवं प्रयास करने पर भी कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं निकल सका।

अनेक कालिदास—'कालिदास' उपाधि-धारियों के कारण भी समस्या उलझ जाती है। साहित्य-जगत् में सरस्वती के वरपुत्र कालिदास की असाधारण प्रसिद्धि के कारण बाद में उनका नाम अन्य के लिए उपाधि हो गया। किसी ने कालिदास की उपाधि प्राप्त की, तो किसी ने कालिदास को अपने उपनाम के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। राजशेखर ने तो तीन ही कालिदास का उल्लेख किया पर टी०एस० नारायण शास्त्री ने ऐसे कालिदासों की संख्या नौ गिनायी है।

उक्त कारणों से विवश होकर हमें अपने प्रिय महाकवि के जीवनवृत्त आदि की जानकारी के लिये या तो उनकी कृतियों में उल्लिखित किन्हीं आधार-तत्त्वों को ढूँढ़ना पड़ता है या किंवदन्तियों की शरण में जाना पड़ता है अथवा उन रचनाओं, प्रशस्तियों एवं कथनों का आश्रय लेना पड़ता है जिनसे उनकी (कालिदास की) जीवनी आदि के विषय में किञ्चिन्मात्र भी प्रकाश पड़ता है। यहाँ कालिदास के जीवनवृत्त, जन्म-स्थान, स्थितिकाल तथा रचनाओं आदि के विषय में संक्षेपतः प्रकाश डाला जा रहा है।

जीवन-वृत्त

किंवदन्तियाँ

भारतीय परम्परा सार्वभौम ख्याति को प्राप्त करने वाले अपने महापुरुषों के जीवन-वृत्त को किसी न किसी किंवदन्ती के साथ जोड़ने मे सिद्धहस्त है। ऐसी ही किंवदन्तियाँ महाकवि कालिदास के साथ जुड़ी हैं।

१. एक किंवदन्ती के अनुसार वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे और पशुपालन आदि का निकृष्ट कार्य करते थे। प्रारम्भ में वे महान् मूर्ख थे। ईर्ष्या और द्वेषवश पण्डितों ने छल-प्रपञ्च करके उनका विवाह उस समय की सुविख्यात विदुषी, शारदानन्द की कुमारी पुत्री विद्योत्तमा से करा दिया। कुछ समय बाद जब विद्योत्तमा को कालिदास की मूर्खता का पता चला तो उसने उन्हें घर से बाहर कर दिया। बाद में काली की उपासना करके उन्होंने विद्या अर्जित की और विद्वान् एवं कवि बनकर घर लौटे। उन्होंने 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' कहकर दरवाजा खटखटाया। विद्योत्तमा ने उनसे पूछा 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः ?' कालिदास ने अपनी वाणी का उत्कर्ष दिखलाने के लिए 'अस्ति' शब्द से प्रारम्भ होने वाले (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा....) कुमारसम्भव, 'कश्चित्' से प्रारम्भ होने वाले (कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा...) मेघदूत तथा वाक् शब्द से प्रारम्भ होने वाले (वागर्थाविव संपृक्तौ) रघुवंश की रचना की। कालिदास के विश्वविख्यात नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल तथा अन्य ग्रन्थों की रचना कैसे हुई ? इसका किंवदन्ती में उल्लेख नहीं है। उक्त किंवदन्ती का सारांश यही है कि मूर्ख कालिदास को महाकवि बनाने का श्रेय उनकी पत्नी को है।

महाकवि तुलसीदास के विषय में भी एक ऐसी ही किंवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार अपनी पत्नी की डाँट सह कर वे महाकवि बन गये। किंवदन्तियों के अनुसार दोनों ही अपनी पत्नी की डाँट सहकर ही महाकवि बने। अन्तर केवल इतना है कि कालिदास अपने घर में डाँटे गये थे जबकि तुलसीदास अपनी ससुराल में। यदि पत्नी की डाँट से ही महाकवि बनने की बात हो तो भला कौन नहीं डाँट खाने के लिए तैयार हो जायेगा ?

२. एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार कालिदास (मातृगुप्त नाम से) विक्रमादित्य की सभा में प्रतिष्ठित थे।

३. जैन विद्वान् मेरुतुङ्गाचार्य कालिदास को अवन्ती के राजा विक्रमादित्य का जामाता मानते हैं।

उक्त किंवदन्तियों के आधार पर कालिदास के जीवनवृत्त के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, पर उनकी कृतियों में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर हम कुछ अनुमान लगाने में समर्थ हो जाते हैं।

कालिदास जन्मत: ब्राह्मण थे। रघुवंश के प्रथम सर्ग में उन्होंने 'क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति:' इस कथन के द्वारा जिस प्रकार अपने विनय का प्रकाशन किया है, उससे लगता है कि वे स्वभावत: विनम्र एवं निरभिमानी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में "जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" (रघुवंश) तथा "या सृष्टि: स्रष्टुराद्या"—(शाकु०) आदि में शिव के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सामान्यत: देवतामात्र के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी शिव के प्रति अधिक आस्थावान् थे। उनका वर्णाश्रम धर्म के प्रति अटूट विश्वास था। वे राज-प्रासादों से लेकर आश्रमों तक के जीवन से पूर्ण परिचित थे। वे आश्रम-प्रधान संस्कृति तथा कर्त्तव्यनिष्ठ तपोमय जीवन के पक्षधर थे। उन्हें जीवन के हर क्षेत्र का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त था। यह बात उनकी रचनाओं की उन अगणित सूक्तियों से प्राप्त होती है जो जीवन के हर क्षेत्र की हर परिस्थिति में हमें शिक्षा देती हैं और हमारा मार्गदर्शन करती हैं।

कालिदास ने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, संगीत, आयुर्वेद आदि विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत के पर्वतों, नदियों, वनों का जिस प्रकार सजीव वर्णन किया है उससे यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें न केवल भूगोल विद्या का ज्ञान था अपितु उन्होंने भ्रमण करके साक्षात् अनुभव भी प्राप्त किया था।

इस प्रकार 'लोकशास्त्राद्यवेक्षणात्' अर्जित ज्ञान का सम्बल लेकर उनकी नैसर्गिकी काव्य-प्रतिभा काव्य-सर्जना में प्रवृत्त हुई। उनमें काव्यप्रतिभा कितनी थी ? इस विषय में आगे प्रकाश डाला जायगा।

जन्म-स्थान

कालिदास के जन्म-स्थान के विषय में भी बहुत विवाद है। कालिदास की लोकविश्रुति एवं अतुल कीर्ति के कारण लोग अपनी जन्मभूमि से कालिदास का नाता जोड़कर अपनी जन्मभूमिकी महत्ता का प्रख्यापन करना चाहते हैं। अनेक राज्यों में उनके जन्मस्थान के रूप में जिन स्थानों का नाम लिया जाता हैं उनमें से कुछ प्रमुख स्थानों के नाम निम्नांकित हैं—

१. **कश्मीर**—कश्मीरी विद्वान् प्रो० कल्ला ने अपनी कृति "कालिदास का जन्म-स्थान" में कालिदास का जन्म कश्मीर में माना है।

२. **बंगाल**—बंगाली लोग कालिदास के नामगत 'काली' और 'दास' इन दो पदों तथा 'मेघदूत' के प्रथम श्लोक 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' के आधार पर कालिदास को बंगाल-भूमि का रत्न मानते हैं क्योंकि बंगाल की इष्ट देवी काली है और वहाँ नाम के साथ दास लगाने की प्रथा है। बंगाल में तो कालिदास के नाम पर स्मारक भी बन गया है।

३. **विदर्भ**—इसके समर्थक डॉ० पीटर्सन आदि हैं।

४. मिथिला—इसके समर्थक पं० आदित्य नाथ झा आदि विद्वान् है। एक अभिलेख में 'कालिदास का चौपड़ी' यह उल्लेख ही उनके मत का आधार है।

५. विदिशा—इसके समर्थक हरप्रसाद शास्त्री तथा परांजपे हैं। मेघदूत में विदिशा के प्रति कालिदास का विशेष आग्रह ही उनके मत का मूलाधार है।

६. उज्जयिनी (मालवा)—महाकवि कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी का बड़ा हृदयावर्जक वर्णन किया है, जिससे उस नगरी के प्रति उनके अनुरागातिशय का पता चलता है। कालिदास के आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। इन सब तथ्यों के आधार पर प्रो० मिराशी आदि विद्वान् उज्जयिनी को कालिदास की कर्म-भूमि मानते हैं। सम्प्रति उज्जयिनी में प्रतिवर्ष कालिदास के नाम पर समारोह होता है।

उक्त स्थानों के अतिरिक्त अयोध्या, गढ़वाल, जालौर (जोधपुर के समीप) से भी कालिदास का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

ऐसी दशा में कालिदास की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि के रूप में किसी स्थान-विशेष का निर्धारण करना कठिन है पर उज्जयिनी के पक्ष में दिये गये तर्कों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाकवि का उज्जयिनी से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रहा है। अधिकांश विद्वान् भी इसी मत के पोषक हैं।

स्थितिकाल

जीवनवृत्त एवं जन्मस्थान की भाँति कालिदास के स्थितिकाल का निर्धारण भी एक जटिल प्रश्न है। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों ने उनके समय का निर्धारण करने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक किया है पर सर्वसम्मत समाधान निकालने में वे असफल रहे हैं। जब आजतक यही निर्णय न हो सका कि महाकवि कालिदास किस शताब्दी में हुए तब उनकी जन्मतिथि एवं मरणतिथि का निश्चय करना तो एक प्रकार से टेढ़ी खीर ही है।

काल की पूर्वापर सीमा—विश्वसनीय सामग्री के अभाव में कालिदास के स्थितिकाल के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक मत स्थिर किये गये हैं। विद्वानों की कल्पना एवं रुचि की अनेकरूपता तथा किंवदन्तियों के बाहुल्य के कारण कालनिर्धारण सम्बन्धी समस्या और उलझ गयी है। यदि कालिदास के स्थितिकाल के विषय में प्रचलित सभी मतों (ई० पू० ८ वीं शताब्दी के मत से लेकर ईसा की ११ वीं शताब्दी तक के मतों) को दृष्टिगत किया जाय तब तो कालिदास की पूर्व सीमा ई० पू० ८ वीं शताब्दी तथा अपर सीमा ११ वीं शताब्दी तक पहुँच जाती है। पर ठोस अन्तः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विचार करने पर उनके काल की पूर्ववर्ती सीमा १५० ई० पूर्व से पहले और ई० की सातवीं शताब्दी के पश्चात् नहीं जा सकती। साक्ष्य निम्नांकित हैं—

(१) कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक प्रसिद्ध शुंगवंशी नरेश अग्निमित्र को बनाया है। अग्निमित्र मौर्यवंश के विनाशक सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र थे। पुष्यमित्र का समय १५० ई० पूर्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में कालिदास १५० ई० पूर्व के पहले नहीं हो सकते।

(२) कन्नौज-सम्राट् हर्ष के आश्रित महाकवि बाणभट्ट विरचित हर्षचरित की प्रस्तावना में कालिदास का उल्लेख हुआ है—'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु'। हर्ष के आश्रित होने के कारण बाणभट्ट का समय ६०६ ई० से ६४७ ई० है।

(३) पुलकेशी द्वितीय के आश्रित कवि रविकीर्ति ने ऐहोल वाले शिलालेख में कालिदास का नाम लिखा है—"स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः"। उक्त शिलालेख का समय शक संवत् ५५६ (ई० ३३४) है। अतः कालिदास को ई० की सातवीं शताब्दी के बाद का नहीं माना जा सकता। अधिकांश विद्वान् उक्त दोनों सीमाओं के मानने के पक्षधर हैं। अब हमें इन्हीं दो सीमाओं (ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ई० की सातवीं शताब्दी) के मध्य कालिदास के काल का निर्धारण करना है।

अनेक मत—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कालिदास के समय-निर्धारण में निम्नांकित तीन मत प्रमुख हैं, अतः संक्षेप में उन्हीं का विवेचन नीचे किया जा रहा है—

१. छठीं शताब्दी का मत
२. गुप्तकालीन मत
३. ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का मत

(१) छठीं शताब्दी का मत—इस मत के समर्थक डॉ० हार्नली, फर्ग्युसन तथा डॉ० हरप्रसाद शास्त्री आदि हैं। डॉ० हार्नली के अनुसार छठीं शताब्दी में सम्राट् यशोधर्मन् ने बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को परास्त किया था। विजयान्तर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण कर उन्होंने विजय के उपलक्ष्य में एक नवीन संवत् चलाया जो विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने चलाये गये संवत् की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये यशोधर्मन् ने अपने संवत् के ६०० पूर्व से, अर्थात् ई० पूर्व ५७ से, प्रारम्भ होने की बात प्रचारित की। डॉ० हार्नली की नवीन संवत्सरकी कल्पना का उपयोग फर्ग्युसन ने कालिदास के समय निर्धारण में किया।

समर्थन में तर्क—इस मत के समर्थन में दिये गये कुछ तर्क निम्नाङ्कित हैं—

१. विक्रमादित्य की सभा में कालिदास का होना प्रसिद्ध ही है।

२. कालिदासविरचित 'रघुवंश' नामक महाकाव्य में रघु की दिग्विजय की सीमा यशोधर्मन् की राज्य सीमा से मिलती है। कालिदास की रचनाओं में यवन, शक, हूण आदि का उल्लेख मिलता है। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर आक्रमण किया था।

३. मैक्समूलर के अनुसार छठीं शताब्दी ही संस्कृत के पुनरुत्थान का समय है। अतः कालिदास का उस काल में होना सम्भव है।

४. ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ के अनुसार कालिदास शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। उस ग्रन्थ का रचना काल ५८० ई० है।

५. छठीं शताब्दी के ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने वर्षा-ऋतु का आरम्भ आषाढ से माना है और कालिदास ने मेघदूत में 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' कहकर आषाढ से वर्षा-ऋतु का आरम्भ स्वीकार किया है। इसके साथ ही कालिदास ने अपनी रचनाओं में वराहमिहिर के अनेक ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

खण्डन—१. छठीं शताब्दी के राजा यशोधर्मन् के द्वारा विजय के उपलक्ष्य में संवत् चलाकर उसे ६०० वर्ष पहले से आरम्भ होने का प्रचार न तर्कसङ्गत है और न इतिहाससम्मत। अतः फर्ग्युसन महोदय की कल्पना आधारहीन है। मालव संवत् के नाम से उक्त संवत् पहले से ही प्रचलित था और उसका 'विक्रम' नाम बाद में पड़ा।

२. भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालिदास शकारि विक्रमादित्य के आश्रित कवियों में से एक थे। 'शकारि' यह उपाधि शकों को परास्त करने वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने धारण की थी। वस्तुतः छठी शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का अन्य कोई राजा नहीं हुआ।

३. रघुवंश के रघु-दिग्विजय वर्णन में जिन शकों, यवनों का उल्लेख हुआ है वे आक्रमणकारी नहीं थे। रघु ने उन्हें भारत की सीमा के बाहर ही परास्त किया था।

४. प्रथम शताब्दी के अश्वघोष (७८ ई०) कृत बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्दादि काव्यों तथा भास के नाटकों से यह सिद्ध हो चुका है कि छठीं शताब्दी के पूर्व में भास, अश्वघोष तथा काव्यात्मक शिलालेखों के रहते छठीं शताब्दी के पूर्व काल को अंधकार-काल कहना तथा छठीं शताब्दी को संस्कृत का पुनरुज्जीवन-काल कहना समीचीन नहीं है।

५. 'ज्योतिर्विदाभरण' जैसे अप्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ कहना ठीक नहीं है।

६. वर्षाऋतु के आषाढ मास से प्रारम्भ होने के आधार पर कालिदास को वराहमिहिर का समकालीन मानना उचित नहीं है। आषाढ से वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ की मान्यता भी वराहमिहिर से पूर्व की है।

७. मध्य भारत के मन्दसौर नामक स्थान में वत्सभट्टिकृत शिलालेख (४७३ ई०) में कालिदास के ऋतुसंहार एवं मेघदूत के पद्यों की स्पष्ट झलक है।

(२) गुप्तकालीन अथवा चतुर्थ शताब्दी का मत—भारतीय जनश्रुति के अनुसार ....'कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' लेख के आधार पर तथा कालिदास

के ग्रन्थों में अङ्कित 'विक्रम' पद के श्लेष के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कालिदास किसी शकारि विक्रमादित्य के आश्रय में थे जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३) तथा उसके पौत्र स्कन्दगुप्त दोनों ने ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। दो विक्रमादित्य की स्थिति होने के कारण यह मत दो भागों में विभक्त हो जाता है—

१. पूना के प्रो० के०वी० पाठक कालिदास को स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने ४५५ ई० में हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। यह मत जिन तथ्यों पर आधारित हैं वे ठीक नहीं हैं। क्योंकि रघुवंश में रघु द्वारा हूणों को परास्त करने की घटना ४५५ ई० पूर्व की ही सिद्ध होती है जब हूणों का भारत में आगमन हुआ था। दूसरी बात यह है कि स्कन्दगुप्त हूणारि थे न कि शकारि। उसने शुङ्गवंशी क्षत्रपों के विजय के उपलक्ष्य में पूर्वप्रचलित मालव संवत् को (अपना नाम विक्रम लगाकर) विक्रम संवत् नाम से चलाया।

२. प्रो० पाठक के मत के विपरीत पाश्चात्त्य विद्वान् डॉ० कीथ, मैक्डॉनल, विण्टरनित्ज तथा भारतीय विद्वान् डॉ० आर० डी० भण्डारकर, म०म० रामावतार शर्मा आदि कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ई०) का आश्रित कवि मानते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को भारत से निकाल कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। इस मत के पक्ष में निम्नाङ्कित तर्क दिये जाते हैं—

१. शकारि विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) की राजधानी उज्जयिनी थी। वह स्वयं विद्वान् पण्डितों का आश्रयदाता एवं दानी था। अतः ऐसे राजा के आश्रय में कालिदास जैसे कवि का रहना समीचीन एवं सङ्गत है। कालिदास की कृतियों में वर्णित सुख-समृद्धि, राजकीय वैभव तथा विलास भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय के प्रतीत होते हैं।

२. चौथी शताब्दी की हरिषेण द्वारा विरचित प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६-३७५ ई०) के विजय वर्णन में तथा रघुवंश के चतुर्थ सर्ग के रघुदिग्विजय-वर्णन में बहुत कुछ समतायें हैं। मालविकाग्निमित्र में वर्णित अश्वमेध यज्ञ समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ को इङ्गित करता है। सम्भव है समुद्रगुप्त के विजयवर्णनों को दृष्टिगत कर ही कालिदास ने रघु के दिग्विजय का वर्णन किया हो।

३. कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का नामकरण विक्रमादित्य नाम को ध्यान में रख कर किया गया है तथा कुमारसम्भव महाकाव्य की रचना चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्षित कर की गयी प्रतीत होती है। इसी प्रकार वाकाटक राजा रुद्रसेन तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती के विवाहोत्सव पर कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र की रचना की।

४. रघुवंश के 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः', 'इन्दुनवोत्थानमिवेन्दुमत्यै' इत्यादि पंक्तियों में 'इन्दु' तथा 'चन्द्रमस्' शब्द चन्दगुप्त को ही लक्षित करता है। 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः', 'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः' तथा 'जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्' इत्यादि स्थलों में अनेक बार 'गुप्' धातु का प्रयोग भी उनके गुप्तकालीन होने का सङ्केत करते हैं।

खण्डन—१. चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पूर्वप्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से चलाने की बात सङ्गत नहीं है। यदि विजय के उपलक्ष्य में उसे संवत् चलाना ही था तो उसने नया संवत् क्यों नहीं चलाया ? दूसरी बात यह है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं गुप्त संवत् चलाया था। अपने पितामह द्वारा चलाये सवंत् को न अपना कर दूसरे संवत् को अपनाना हास्यास्पद है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद किसी गुप्त राजा ने विक्रम संवत् को नहीं अपनाया। स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख का ही उल्लेख है— **'गुप्तप्रकाले गणनां विधाय।'** वस्तुस्थिति यह है कि विक्रम संवत् का प्रथमोल्लेख नवीं शताब्दी में मिलता है।

२. किसी भी गुप्त राजा का नाम विक्रमादित्य नहीं है। चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त की 'विक्रमादित्य' उपाधि है। कोई भी उपाधि तभी प्रचलित होती है जब उस नाम का कोई व्यक्ति पहले से ही ख्याति प्राप्त कर चुका हो। यदि 'कालिदास' उपाधिधारियों को ही वास्तविक कालिदास मान लिया जाय तब तो संस्कृत साहित्य को कम से कम दस कालिदास प्राप्त हो जायेंगे। अतः 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय को वास्तविक विक्रमादित्य मानना कथमपि न्याय-सङ्गत नहीं है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय को शकारि कहना भी ठीक नहीं है।

३. कालिदास के रघुवंश में वर्णित दिग्विजय का मूल हरिषेण विरचित प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त के दिग्विजय में ढूँढ़ना असङ्गत है। दिग्विजयों का वर्णन अति प्राचीन ग्रन्थों रामायण, महाभारत पुराणादि में भी मिलता है। इसी प्रकार कालिदास के समक्ष उनके पूर्ववर्ती राजाओं 'पुष्यमित्रादि' द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञों का वर्णन भी विद्यमान था।

४. चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म की स्मृति में कुमारसम्भव की तथा विक्रमादित्य के 'विक्रम' शब्द के आधार पर 'विक्रमोर्वशीय' की रचना मानना भी ठीक नहीं है। संस्कृत-साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी पुत्र अर्थमें कुमार शब्द अत्यधिक प्रचलित है। कालिदास ने अपनी कृतियों में कुमार के पर्यायवाची पुत्र, तनय, आत्मज आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। कालिदास ने कुमार-सम्भव में कुमार शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि शिव के पुत्र स्कन्द के लिये कुमार शब्द अधिक प्रचलित है। विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त विक्रम शब्द को चन्दगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के लिये मानना अनुचित है क्योंकि विक्रमोर्वशीय

में विक्रम शब्द पराक्रम का पर्याय है और उससे पुरूरवा के पराक्रम की सूचना मिलती है। अग्निमित्र पुष्यमित्र का पुत्र था और उसका समय सम्भवतः १५० ई० पू० रहा होगा। कालिदास ने अपने समय के समीप होने के कारण उसके गुणों से प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा में अपने नाटक की रचना की है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती के विवाह के अवसर पर विक्रमोर्वशीय की रचना मानना भी ठीक नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो वे गुप्तवंशी राजाओं में से ही किसी को अपने नाटक का नायक बनाते।

५. कालिदास के काव्यों में 'गुप्' धातु का बारम्बार प्रयोग गुप्त राजाओं के लिये किया गया है, यह मान्यता भी निराधार है। कालिदास के काव्यों में सामान्य रक्षा अर्थ में ही, रक्षार्थक अन्य धातुओं (रक्ष्, पा, त्रै आदि) की भाँति ही 'गुप्' का प्रयोग हुआ है।

६. कालिदास ने अपने काव्यों में ('चन्द्रमसैव रात्रिः' आदि स्थलों में) जो 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्र' के पर्यायवाची 'इन्दु' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, वह भी सामान्य अर्थ में ही। संस्कृत के प्रायः सभी काव्य-ग्रन्थों में चन्द्रवर्णन एक सामान्य बात है।

अतः ठोस प्रमाण के बिना केवल उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही महाकवि कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक मानना उचित नहीं है।

(३) ई० पू० प्रथम शताब्दी का मत—भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार कालिदास का सम्बन्ध किसी विक्रमादित्य नामक राजा से था जो विद्याव्यसनी, उदारचेता और कवियों आदि का आश्रयदाता था। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता है कि कालिदास ई०पू० प्रथम शताब्दी में विराजमान विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। उनके मत में विक्रमादित्य परमारवंशी थे और उन्होंने शकों को परास्त कर विजय के उपलक्ष्य में मालवगणस्थिति संवत् चलाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विरोधी पक्ष को ई०पू० प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, उनके द्वारा विक्रम संवत् चलाये जाने की बात तथा कालिदास का उक्त का आश्रित होना मान्य नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता आदि को सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। अतः सर्वप्रथम इन तीनों के विषय में विचार करना आवश्यक है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता—१. हाल की गाथासप्तशती (प्र० शताब्दी ई०) में विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी, उदार तथा महादानी राजा का उल्लेख है जिसने शकों पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों रुपये का उपहार दिया था— "विक्रमादित्योऽपि भृत्यस्य करे लक्षं ददाति'—टीकाकार गदाधर।

२. गुणाढ्य (७८ ई०) की बृहत्कथापर आश्रित सोमदेवकृत कथासरित्सागर में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है। उसके अनुसार विक्रमादित्य परमारवंशी

महेन्द्रादित्य का पुत्र था और उसने शकों को पराजित कर विजय के उपलक्ष्य में मालवगणस्थिति संवत् चलवाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रचलित हुआ। उक्त ग्रंथ में विक्रमादित्य के राज्याभिषेक का भी वर्णन है तथा पिता-पुत्र दोनों के शैव होने की बात कही गयी है।

३. जैनकवि मेरुतुङ्गाचार्य द्वारा विरचित पद्यावली से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य महावीर के निर्वाण के ४७० वें वर्ष (ई० ५७ वर्ष) में छीन लिया था।

४. सर विलियम जोन्स, विन्सेन्ट स्मिथ, स्टेन कोनों तथा एजर्टन आदि पाश्चात्त्य और प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ० राजबली पाण्डेय आदि भारतीय विद्वानों ने भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को मान्यता प्रदान की है।

उक्त प्रमाणों तथा अन्य तथ्यों के होने पर भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार न करना एक प्रकार का दुराग्रह ही है। केवल शिलालेख आदि सामग्री के आधार पर ही किसी की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं होती। ऐसा होने पर तो न जाने कितने महापुरुषों की सत्ता अमान्य हो जायेगी।

विक्रमादित्य उपाधि—इस सन्दर्भ में विक्रमादित्य उपाधि तथा विक्रम संवत् के प्रवर्तन के समाधान पर थोड़ा विचार कर लेना प्रसङ्गोपेत है—'विक्रमादित्य'– इस उपाधि ने किन्हीं आलोचकों को और भ्रमित किया है। इसलिये वे कालिदास का सम्बन्ध विक्रमादित्य उपाधि-धारी चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा स्कन्दगुप्त के साथ जोड़ते हैं। वास्तविकता यह है कि ई०पू० प्रथम शताब्दी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र का वास्तविक नाम ही विक्रमादित्य था। विक्रमादित्य उसकी उपाधि नहीं थी। उसकी उदारता, विद्याप्रेम, दानवीरता तथा न्यायप्रियता ने उसे इतना लोकप्रिय बना दिया था कि उसके नाम के साथ अनेक जनश्रुतियाँ जुड़ गयीं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र का भी शायद ही कोई हिन्दू हो जिसने विक्रमादित्य का नाम न सुना हो। महापुरुषों के नाम को परवर्ती लोगों द्वारा उपाधि के रूप में धारण करने की प्रथा प्रत्येक देश में प्रचलित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा स्कन्दगुप्त द्वारा विक्रमादित्य की तथा कुमारगुप्त के द्वारा महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण करना इसी तथ्य का द्योतक है। ऐसी स्थिति में कालिदास का सम्बन्ध वास्तविक विक्रमादित्य के साथ न जोड़कर विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि के साथ जोड़ना ठीक नहीं है।

विक्रम संवत्—जहाँ तक ई०पू० प्रथम शताब्दी वाले विक्रमादित्य के द्वारा विक्रम संवत् के प्रवर्तन का प्रश्न है उसके बारे में विरोधियों का यह कहना है कि यदि उक्त विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया हो तो उन्होंने अपने नाम से क्यो नहीं चलाया ? उन्होंने संवत् को मालव नाम से क्यों चलाया था ? पाँचवीं तथा छठीं शताब्दी के शिलालेखें

में 'मालवगणस्थित्या' 'श्रीमालवगणा' आदि रूपों में इस संवत् का उल्लेख है। संवत् के साथ 'विक्रम' नाम नवीं या दसवीं शताब्दी में जुड़ा।

इस प्रसङ्ग में दो बातें कहनी हैं। प्रथम यह कि 'गणस्थिति' का अर्थ गणना पद्धति है। दूसरी यह कि विक्रमादित्य ने प्रारम्भ में संवत् के साथ अपना नाम जोड़ना उचित न समझकर उसमें 'मालवगण' का ही नाम जोड़ दिया। बाद में उनकी ख्याति के कारण वह संवत् विक्रम के नाम से चल पड़ा।

कालिदास का विक्रमादित्य का आश्रित होना—विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सम्बन्धी समस्या का समाधान हो जाने के बाद यह प्रश्न विचारणीय हो जाता हैं कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे या नहीं ? निम्नांकित तथ्यों को दृष्टिगत करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे—

१. विक्रमादित्य विद्याव्यसनी, काव्यप्रेमी तथा संस्कृत के अनुरागी थे। अतः उनके आश्रय में कालिदास की स्थिति सर्वथा संभव है।

२. कालिदास ने रघुवंश में अवन्ति के राजा विक्रमादित्य का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है-'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु....' ६/३२ तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में संवत् १६९९ (१६४२ ई०) की हस्तलिखित पाण्डुलिपि में भी विक्रमादित्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे और उनके शाकुन्तल का अभिनय उनकी सभा में हुआ था।

३. कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशीय के नाम में नाटक के नायक पुरूरवा के स्थान पर 'विक्रम' नाम प्रतिष्ठित किया है और नाटक में 'महेन्द्र' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। इससे भी कालिदास की विक्रमादित्य की आश्रयता सिद्ध होती है।

४. शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा रघुवंश में महाकवि ने भगवान् शङ्कर की वन्दना की है। विक्रमादित्य भी शैव थे। कालिदास के काव्यों में सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन हुआ है। विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुप्त राजा वैष्णव थे तथा उनका सम्बन्ध चन्द्रवंश से था।

५. 'ज्योतिर्विदाभरण' में उल्लिखित नवरत्नों के बीच कालिदास के नाम को देखकर यह अनुमान लगाना कि 'कालिदास ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं थे' ठीक नहीं है क्योंकि उसमें चर्चित क्षपणक, शंकु आदि अज्ञात हैं। दूसरे सभी नव कवियों की समकालीनता भी सन्दिग्ध है।

अतः उक्त प्रमाणों से विक्रम संवत् के प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के आश्रय में कालिदास की स्थिति निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो जाती है। यों विक्रमादित्य के आश्रय में कालिदास की स्थिति सिद्ध हो जाने पर उनका ई० पू० प्रथम

शताब्दी में विद्यमान होना भी सिद्ध हो जाता है। परन्तु निम्नांकित साक्ष्य भी कालिदास की सत्ता ई०पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करते हैं। अतः वे भी द्रष्टव्य हैं।

१. अश्वघोष तथा कालिदास की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष पर कालिदास का प्रभाव है। अश्वघोष कुषाण सम्राट कनिष्क (प्रथम शताब्दी) के गुरु तथा राजकवि थे। अतः विरोधियों का कालिदास को अश्वघोष का परवर्ती मानना ठीक नहीं है।

२. कालिदास की रचनाओं में अनेक अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास ने अपने काव्यों की रचना तब की जब पाणिनीय व्याकरण का प्रभाव पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। यह काल ई०पू० प्रथम शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम शताब्दी के अश्वघोष में तथा परवर्ती कवियों में अपाणिनीय प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

३. कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक अग्निमित्र को बनाया है। अग्निमित्र का समय १५० ई०पू० है। उक्त नाटक में चित्रित कुछ बातें भी कालिदास को अग्निमित्र का समीपवर्ती सिद्ध करती हैं।

४. भीटा (प्रयाग) के एक मुद्राचित्र में हरिण का शिकार करता हुआ एक रथारूढ़ राजा दिखलाया गया है। उक्त स्थान शुङ्ग की सीमा में पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास शुङ्गों का शासन समाप्त होने के पहले थे। शुङ्गों का समय ई० पू० २५ है।

५. गुप्तकालीन शिलालेखों की भाषा शैली से कालिदास की भाषा शैली की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता हे कि शिलालेखों की समासबहुल और कृत्रिम भाषा शैली की अपेक्षा कालिदास की शैली सरल एवं स्वाभाविक है। उसमें लम्बे समासों का भी अभाव है। इससे भी कालिदास का गुप्तकाल की अपेक्षा पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। कालिदास की शैली महाभाष्य (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के निकट है।

६. कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर अवन्तिनाथ पाण्ड्य का—'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुः......' तथा उस पर रघु के विजय का वर्णन किया है—'तस्यामेव रघोः पाण्ड्या प्रतापं न विषेहिरे' ४/४९। पाण्ड्य राजाओं की स्थिति ई०पू० प्रथम शताब्दी में थी।

उक्त प्रमाणों तथा तथ्यों के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल ई०पू० प्रथम शताब्दी में मानना समीचीन एवं सङ्गत हैं।

कालिदास की रचनायें

संस्कृत-जगत् में महर्षि वाल्मीकि एवं भगवान् वेदव्यास के अनन्तर जिस महाकवि ने सर्वाधिक सम्मान एवं लोकप्रियता प्राप्त की है उसका नाम है कालिदास। संस्कृत-साहित्य

का यह सौभाग्य है कि उसने महाकवि कालिदास जैसे कविरत्न को प्राप्त किया है जो महाकाव्य, खण्ड-काव्य तथा नाट्य–तीनों काव्यविधाओं की रचना में कुशल है। कालिदास के परवर्ती संस्कृत-साहित्य पर तो कालिदास का इस प्रकार प्रभाव पड़ा है कि कई कवियों ने अमरता प्राप्त करने के लिये अपनी रचनाओं के साथ कालिदास का नाम भी जोड़ दिया। परिणामस्वरूप यह विषय निर्विवाद नहीं रह सका कि कालिदास की वास्तविक रचनायें कितनी हैं ? कालिदास के नाम पर विरचित जिन कृतियों का नाम लिया जाता है उनमें प्रमुख कृतियाँ निम्नाङ्कित हैं—

१. ऋतुसंहार २. कुमारसम्भव ३. मेघदूत ४. रघुवंश ५. मालविकाग्निमित्र ६. विक्रमोर्वशीय ७. अभिज्ञानशाकुन्तल ८. श्रुतबोध ९. राक्षसकाव्य १०. शृङ्गारतिलक ११. गङ्गाष्टक १२. श्यामलादण्डक १३. नलोदयकाव्य १४.पुष्पबाणविलास १५. ज्योतिर्विदाभरण १६. कुन्तलेश्वरदौत्य १७. लम्बोदर प्रहसन १८. सेतु-बन्ध तथा १९. कालिस्तोत्र आदि।

उक्त कृतियों में संख्या दो से लेकर संख्या सात तक की रचनायें निर्विवाद रूप से कालिदास की मानी जाती हैं। प्रथम कृति 'ऋतु-संहार' के बारे में विद्वान् एकमत नहीं है परन्तु परम्परा उसे भी कालिदास की कृति स्वीकार करती है। अतः इन्हीं सात कृतियों को कालिदास की रचना मानकर उनका परिचय दिया जा रहा है।

काव्य-विधा की दृष्टि से उक्त सात कृतियों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—

१. गीति-काव्य अथवा खण्ड काव्य—(क) ऋतुसंहार (ख) मेघदूत।

२. महाकाव्य—(क) कुमारसम्भव (ख) रघुवंश।

३. नाट्य अथवा दृश्य काव्य—(क) मालविकाग्निमित्र (ख) विक्रमोर्वशीय (ग) अभिज्ञानशाकुन्तल।

इन सात कृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. ऋतुसंहार—यह कालिदास की प्रथम रचना मानी जाती है। इसमें कुल छः सर्ग हैं और उनमें क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त इन छः ऋतुओं का अत्यन्त स्वाभाविक, सरस एवं सरल वर्णन है। इसमें ऋतुओं का सहृदयजनों के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का भी हृदयग्राही चित्रण है। प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण हृदय को अत्यन्त आह्लादित करता है। इस काव्य में कालिदास की कमनीय शैली के दर्शन न होने के कारण कुछ विद्वान् इसे कालिदास की रचना नहीं मानते।

२. मेघदूत—यह एक खण्ड-काव्य अथवा गीति-काव्य है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्वमेघ (२) उत्तरमेघ। इसमें अपनी वियोग-विधुरा कान्ता के पास वियोगी यक्ष मेघ के द्वारा अपना प्रणय-संदेश भेजता है। पूर्वमेघ में महाकवि, रामगिरि से लेकर अलका तक के

मार्ग का विशद वर्णन करते समय, भारतवर्ष की प्राकृतिक छटा का एक अतीव हृदयावर्जक चित्र खड़ा कर देता है। वस्तुतः पूर्वमेघ में बाह्य-प्रकृति का सजीव चित्र आँखों के समक्ष नाचने लगता है। उत्तरमेघ में मानव की अन्तः प्रकृति का ऐसा विशद चित्रण हुआ है जिससे सहृदय का चित्त-चञ्चरीक नाच उठता है।

इस खण्ड-काव्य ने कालिदास को सहृदय जनों के मानस मन्दिर में महनीय स्थान का भागी बना दिया है। इसकी महत्ता का आकलन इसी से किया जा सकता है कि इस पर विद्वानों द्वारा लगभग ७० टीकायें लिखी गयीं और इसको आदर्श मानकर प्रचुर मात्रा में सन्देश-काव्यों की रचनायें की गयीं। आलोचकों की 'मेघे माघे गतं वयः' यह उक्ति यथार्थ ही है।

३. **कुमारसम्भव**—यह एक महाकाव्य है। इसमें कुल सत्रह सर्ग हैं। मल्लिनाथ ने प्रारम्भिक आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है और परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों ने इन्हीं आठ सर्गों के पद्यों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इसलिए विद्वान् प्रारम्भिक आठ सर्गों को ही कालिदास द्वारा विरचित मानते हैं। इस महाकाव्य में शिव के पुत्र कुमार की कथा वर्णित है। कुमार को षाण्मातुर, कार्तिकेय तथा स्कन्द भी कहा जाता है। इसकी शैली मनोरम एवं प्रभावशाली है। भगवान् शङ्कर के द्वारा मदनदहन, रतिविलाप, पार्वती की तपःसाधना तथा शिव-पार्वती के प्रणय-प्रसंग आदि का वृत्तान्त बड़े ही कमनीय ढंग से वर्णित है जिससे सरसजनों का मन इसमें रमता है।

४. **रघुवंश**—उन्नीस सर्गों में रचित कालिदास का यह सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें राजा दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंशी राजाओं की कथाओं का काव्यात्मक वर्णन है। सूर्यवंशी राजाओं में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वर्णन हेतु महाकवि ने छः सर्गों (१०-१५) को निबद्ध किया है।

कालिदास की इस कृति में लक्षण ग्रन्थों में प्रतिपादित महाकाव्य का सम्पूर्ण लक्षण घटित हो जाता है। इस महाकाव्य में कालिदास की काव्यप्रतिभा एवं काव्य-शैली दोनों को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसकी रसयोजना, अलङ्कार-विधान, चरित्र-चित्रण तथा प्रकृति-सौन्दर्य आदि सभी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर सहृदय समाज का रसावर्जन करते हुए कालिदास की कीर्ति-कौमुदी को चतुर्दिक् बिखेरते हैं। रघुवंश की व्यापकता एवं लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर लगभग ४० टीकायें लिखी गयी हैं और इसकी रचना करने के कारण कालिदास को 'रघुकार' की पदवी से विभूषित किया जाता है।

५. **मालविकाग्निमित्र**—यह पाँच अंकों का एक नाटक हैं। इसमें शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय कथा का मनोहर तथा हृदयहारी चित्रण है। इसमें विलासी राजाओं के अन्तःपुर में होने वाली कामक्रीडाओं तथा रानियों की पारस्परिक ईर्ष्यादि का अतीव यथार्थ तथा सजीव चित्रण है।

६. **विक्रमोर्वशीय**—इस नाटक में कुल पाँच अङ्क हैं। ऋग्वेद आदि में वर्णित चन्द्रवंशीय राजा पुरूरवा तथा अप्सरा उर्वशी का प्रेमाख्यान इस नाटक का इतिवृत्त है। परोपकार-परायण पुरूरवा द्वारा अप्सरा उर्वशी का राक्षसों के चंगुल से उद्धार, से ही इसकी कथा का प्रारम्भ होता है। तदनन्तर उर्वशी की पुरूरवा के प्रति कामासक्ति और उर्वशी के वियोग में राजा की मदोन्मत्तता ही प्रतिपाद्य विषय बन जाती है। नाट्य-कौशल की उपेक्षा कर कवि ने इसमें अपने काव्यात्मक चमत्कार का ही प्रदर्शन किया है।

७. **अभिज्ञानशाकुन्तल**—कालिदास की नाट्य कला की चरम परिणति शाकुन्तल में हुई है। यह भारतीय तथा अभारतीय दोनों प्रकार के आलोचकों में समान आदर का भाजन है। जहाँ एक ओर भारतीय परम्परा 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' कहकर इसकी महनीयता का गुणगान करती है वहीं पाश्चात्त्य जर्मन विद्वान् महाकवि गेटे 'ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम्' कहकर उसके रसास्वाद हेतु सम्पूर्ण सहृदय जगत् का आह्वान करते हैं। शाकुन्तल में सब मिलाकर सात अङ्क हैं और इसमें पुरुवंशीय नरेश दुष्यन्त तथा कण्व-दुहिता शकुन्तला की प्रणय-कथा का अतीव चित्ताकर्षक एवं मनोरम वर्णन है। शाकुन्तल की विस्तृत समीक्षा आगे की जायेगी।



अभिज्ञानशाकुन्तल

संक्षिप्त कथावस्तु

प्रथम अङ्क—नान्दी पाठ के अनन्तर सूत्रधार नटी को 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अभिनय प्रस्तुत करने का आदेश देता है। तत्पश्चात् रथारूढ राजा धनुष-बाण हाथ में लिये मृग का पीछा करता हुआ सारथि के साथ तपोवन में प्रवेश करता है। राजा मृग पर ज्यों ही बाण-वर्षा करना चाहता है त्यों ही एक तपस्वी वैखानस राजा को यह कह कर रोक देता है कि 'आश्रम-मृग अवध्य है।' राजा तत्काल अपने बाण को प्रत्यञ्चा से उतार लेता है। तपस्वी शुभाशीष प्रदान करता है कि 'उसे चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो'। तपस्वी वैखानस राजा से निवेदन करता है कि वह (राजा) मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व के आश्रम में अतिथि-सम्मान ग्रहण करे। सम्प्रति कुलपति कण्व शकुन्तला की भाग्य-विपरीतता के शमन हेतु सोमतीर्थ गये हैं। उनकी अनुपस्थिति में शकुन्तला अतिथि-सत्कार का दायित्व सँभाल रही है। राजा दुष्यन्त रथ को आश्रम के सीमान्त में रोक कर साधारण वेष में आश्रम में प्रविष्ट होता है। इतने में ही जब वह कुछ मधुर स्वर सुनता है तो घूमकर देखता है, वहाँ तीन आश्रम कन्यायें वृक्ष-सेचन में तल्लीन हैं। उन कन्याओं में से कण्व-पुत्री शकुन्तला के रूपमाधुर्य पर वह आकृष्ट हो जाता है और वृक्ष की ओट में छिपकर अपलक नेत्रों से उसके रूप-सौन्दर्य का पान करता है। शकुन्तला कभी मौलसिरी वृक्ष की ओर तथा कभी वनज्योत्स्ना के समीप जाती है। सखियों के हास-परिहास के मध्ये ऊपर आया एक भौंरा शकुन्तला के मुख की ओर आने लगता है। शकुन्तला सम्भ्रमित होकर रक्षा के लिये सखियों को पुकारती है। सखियाँ मुस्कराकर राजा दुष्यन्त को पुकारने के लिए कहती हैं। क्योंकि आश्रमजन राजा द्वारा ही रक्षित होते हैं। अवसर देखकर छिपा हुआ दुष्यन्त स्वयं प्रकट हो कर भ्रमर से आक्रान्त शकुन्तला की रक्षा करता है। अकस्मात् अपरिचित राजा को सम्मुख देकर प्रियंवदा सखी शकुन्तला को राजा का सत्कार करने के लिये कहती है। राजा को वृक्ष की छाया में बैठाकर स्वयं तीनों बैठ जाती हैं। वार्तालाप के प्रसङ्ग में राजा को अनसूया से ज्ञात होता है कि शकुन्तला का जन्म ऋषि विश्वामित्र एवं मेनका के सम्पर्क से हुआ है एवं परित्यक्ता होने पर वह कण्व द्वारा पालित एवं पोषित है। राजा के प्रश्न जिज्ञासा का समाधान करती हुई प्रियंवदा जब यह कहती है कि पिता कण्व इसे योग्य वर को देने लिये कृतसंकल्प हैं। तब राजा अपने मन में शकुन्तला के साथ अपने विवाह के विषय में आश्वस्त हो जाता है परन्तु प्रियवंदा की बातों को सुनकर शकुन्तला कुछ रुष्ट होकर जाने के लिये उद्यत हो उठती है। तब तक परिहास में वृक्ष-सेचन के ऋण का स्मरण कराकर प्रियंवदा उसे रोकना

चाहती है । राजा अंगूठी द्वारा शकुन्तला को ऋणरहित करना चाहता है । अंगूठी पर अंकित दुष्यन्त के नाम को पढ़कर अनसूया और प्रियंवदा जब एक दूसरे की ओर देखने लगती हैं, तब राजा अपने को दुष्यन्त न समझने का निवेदन करता है । नेपथ्य में ध्वनि होती है कि एक जंगली हाथी भयभीत होकर इधर ही आ रहा है । भयाक्रान्त होकर तापस कन्यायें आश्रम की ओर चली जाती हैं । शकुन्तला के प्रति आकृष्ट राजा राजधानी-गमन स्थगित कर खिन्न होकर पड़ाव की ओर चला जाता है ।

द्वितीय अङ्क—द्वितीय अङ्क में सर्वप्रथम विदूषक प्रवेश करता है । वह शिकार के व्यसनी राजा दुष्यन्त की मैत्री से दु:खी है इसलिये वह किसी प्रकार राजा से आज का अवकाश ग्रहण करने के विषय में सोचता है । इतने में ही यथोक्त सेवकों सहित प्रेमासक्त राजा प्रवेश करता है । विदूषक राजा से एक दिन का विश्राम चाहता है । उधर राजा का भी मन शकुन्तला का निरन्तर स्मरण आने के कारण शिकार से हट सा गया है । विदूषक के निवेदन से सहमत होकर वह सेनापति को आदेश देता है कि वह जंगली पशुओं को एकत्र करने के लिये निकले हुये सेवक-वर्ग को लौटा ले । इसके बाद परिजन-वर्ग चला जाता है ।

विदूषक के साथ राजा एकान्त वृक्ष की छाया से निर्मित वितान के नीचे शिलापट्ट पर बैठ जाता है । वहीं पर वह शकुन्तला के प्रति अपनी आसक्ति के विषय में विदूषक को इङ्गित करता है तथा आश्रम में एक बार और जाने के लिये उससे कोई व्याज ढूँढ़नेको कहता है । इसी समय दो तपस्वी ऋषिकुमार आ जाते हैं । वे (ऋषिकुमार) यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने वाले राक्षसों के निवारणार्थ राजा से आश्रम में आने का निवेदन करते हैं । अपने मनोऽनुकूल निमन्त्रण को राजा स्वीकार कर लेता है और रथारूढ़ होकर विदूषक के साथ आश्रम की ओर प्रस्थान करता है । इतने में ही नगर से करभक नामक सेवक आता है जो सन्देश देता है कि महारानी की आज्ञा है कि 'आगामी चौथे दिन उनके (महारानी के) उपवास की पारणा होगी । उस समय आयुष्मान् दुष्यन्त माता को अवश्य सम्मानित करें ।' राजा चिन्ता-निमग्न हो जाता है कि 'वह तपस्वियों का कार्य करे अथवा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें ।' काफी सोच-विचार कर माता के द्वारा पुत्र रूप में माने गये विदूषक को हस्तिनापुर भेज देता है । हस्तिनापुर में माता को सन्देश भेजता है कि इस समय वह तपस्वियों के कार्य में व्यग्रचित्त है । अत: उसका वहाँ आना सम्भव नहीं है । उसे यह भय है कि विदूषक चञ्चलतावश कहीं उसके प्रणय-प्रसङ्ग को अन्त:पुर में न कह दे । अत: वह विदूषक से शकुन्तला के प्रति अपनी आसक्ति को सही न मानने के लिये आग्रह करता है ।

तृतीय अङ्क—हाथ में कुश लिये हुये यजमान का शिष्य प्रवेश करता है और सूचना देता है कि राजा द्वारा रक्षा किये जाने पर आश्रम की सभी क्रियायें निर्विघ्न सम्पन्न हो रही हैं । आकाश-भाषित द्वारा यह सूचना मिलती है कि शकुन्तला धूप के आघात से अत्यन्त

अस्वस्थ हो गयी है। उसी समय मदनावस्था में राजा प्रवेश करता है। "उस धूप की वेला में शकुन्तला अपनी सखियों के साथ प्रायः लतावलयों से युक्त मालिनी नदी के तट पर व्यतीत करती है" ऐसा सोच कर राजा बेंत की लता से आवृत लतामण्डप में पहुँचता है। वहाँ वृक्ष की शाखाओं की ओट से अपनी प्रियतमा को देखकर उसके नेत्र निर्वाण-सुख को प्राप्त कर लेते हैं। शकुन्तला पुष्पशय्या पर पड़ी है और सखियाँ उसकी सेवा में तल्लीन हैं। वह छिपकर प्रेयसी और उसकी सखियों के विश्वस्त वार्तालाप को सुनता है। लता-मण्डप में दोनों सखियाँ शकुन्तला से यह जानने को उत्सुक हैं कि उसके सन्ताप का मूल कारण काम है अथवा ग्रीष्मातप। सखियों के अनुरोध पर निष्कपटहृदया शकुन्तला स्वीकार करती है कि तपोवन के रक्षक राजर्षि दुष्यन्त के प्रति वह आकृष्ट हो गयी है और उसको प्राप्त करने की उसके हृदय में तीव्र लालसा है। उसकी कृशता का मूल कारण यही है। प्रियंवदा प्रसन्न होती है कि उसकी सखी ने अनुरूप व्यक्ति के प्रति ही प्रेम किया है।

प्रियंवदा शकुन्तला को एक प्रेमपत्र लिखने का परामर्श देती है। परन्तु शकुन्तला का मन अवज्ञा के भय से आशङ्कित हो जाता है। उधर वृक्ष की ओट में छिपा हुआ राज अत्यन्त प्रसन्न होता है और मन ही मन कहता है कि "भीरु! जिससे तुम अपमान की आशङ्का कर रही हो वह तुम्हारे समागम के लिये उत्सुक बैठा है।" शकुन्तला सखियों के आग्रह से नलिनी-पत्र पर नाखूनों से राजा को प्रेमपत्र लिखती है। राजा सहसा उपस्थित होकर शकुन्तला के प्रति उत्कट मनोविकार को प्रकट कर देता है। प्रणयी युगल राजा और शकुन्तला को एकान्त में छोड़कर दोनों सखियाँ (प्रियंवदा और अनसूया) वहाँ से चली जाती हैं। राजा और शकुन्तला काम-व्यापार में संलग्न हो जाते हैं। रात्रि होने लगती है। तभी शकुन्तला की अस्वस्थता का समाचार पाकर शान्ति-जल लिये हुए आर्या गौतमी आती हैं। राजा वृक्ष की ओट में छिप जाता है। गौतमी के साथ शकुन्तला आश्रम की ओर प्रस्थान करती है। इसी बीच आकाशवाणी सुनाई पड़ती है कि राक्षसों की भयोत्पादक छायायें आश्रम का बार-बार चक्कर लगा रही हैं। ऐसा सुनकर कामाभिभूत होने पर भी राजा राक्षसों के विघ्न को दूर करने के लिये प्रस्थान कर देता है।

चतुर्थ अङ्क—चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में पुष्प-चयन करती हुई शकुन्तला की दोनों सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा प्रवेश करती हैं। उनके वार्तालाप से ज्ञात होता है कि राजा और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो गया है। गान्धर्व विवाह के शीघ्र बाद ही राजा शकुन्तला को शीघ्र लिवा जाने का आश्वासन देकर हस्तिनापुर चला गया है। शकुन्तला राजा का स्मरण करती हुई चित्रलिखित सी कुटी में बैठी है। तभी दुर्वासा ऋषि का आगमन होता है। शकुन्तला से अतिथि-सत्कार न पाकर कोपराट् दुर्वासा उसको अभिशाप दे देते हैं—"जिसका स्मरण करती हुई तुम मेरे जैसे तपस्वी का सत्कार नहीं कर रही हो वह प्रणयी याद दिलाये जाने पर भी तुम्हें पहचानेगा नहीं"। उद्विग्नमना शकुन्तला कुछ भी नहीं सुन पाती जब कि उसकी सखियाँ यह सब कुछ सुन लेती हैं और शाप-निवारण के लिये प्रियंवदा

प्रस्थान कर देती है। अत्यधिक अनुनय-विनय के पश्चात् दुर्वासा आश्वासन देते हैं कि अभिज्ञान (आभरण) के दर्शन से शाप-मुक्ति हो सकती है। प्रियंवदा और अनसूया दुर्वासा के शाप की बात न तो शकुन्तला को, न ही किसी अन्य को बताती हैं। वे दोनों इसलिये किसी प्रकार धैर्य-धारण करती हैं क्योंकि राजा ने स्वयं जाते समय अपनी नामाङ्कित अंगूठी स्मृति रूप में शकुन्तला को पहनायी थी। इस प्रकार शकुन्तला तो स्वयं ही शाप-मुक्त हो सकती है।

ऋषि कण्व सोमतीर्थ से वापस आ जाते हैं। अनसूया विचार करती है कि शकुन्तला के आपन्नसत्त्वा होने के वृत्तान्त से महर्षि कण्व को कैसे अवगत कराया जाय। उधर ऋषि कण्व को आकाशवाणी सुनायी देती है कि शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह हो गया है और वह आपन्नसत्त्वा है। ऋषि इस विवाह का समर्थन करते हैं एवं शकुन्तला को हस्तिनापुर ले जाने के लिये गौतमी, शार्ङ्गरव आदि को आदेश देते हैं। शकुन्तला की विदाई की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। इस मङ्गल बेला में वनवृक्षों से रेशमी वस्त्र, आभूषण एवं प्रसाधन-समग्री प्राप्त हो जाती है। पतिगृह के लिये प्रस्थान करने के समय तपस्वी वीतरागी कण्व का गला भर जाता है। सारा तपोवन शकुन्तला के वियोग से व्यथित हो जाता है। मृग शावक शकुन्तला के आँचल से लिपट जाता है। हिरणियाँ जुगाली करना तथा मयूर नाचना छोड़ देते हैं। चेतन जगत् की बात तो दूर तपोवन के जड़ जगत् के लिये भी शकुन्तला का वियोग असह्य हो जाता है। महर्षि कण्व राजा के लिये संदेश भेजते हैं कि इसे राजा अपनी पत्नियों में सम्मान पूर्वक स्थान दे। तदनन्तर वे शकुन्तला को कर्तव्य-शिक्षा देते हैं। शकुन्तला पिता के चरणों में गिर पड़ती है तथा दोनों सखियों का आलिङ्गन करती हैं। सखियाँ शकुन्तला से बतलाती हैं कि यदि राजा उसे न पहचाने तब उसके स्मरण चिह्न अँगूठी को वह दिखला देगी। तत्पश्चात् शकुन्तला गौतमी, शार्ङ्गरव एवं शारद्वत के साथ चली जाती है। दोनों सखियाँ विलाप करती रहती हैं। शकुन्तला को पतिगृह भेजकर कुलपति कण्व हार्दिक शान्ति का अनुभव करते हैं।

पञ्चम अङ्क—सर्वप्रथम आसन पर बैठा हुआ राजा एवं विदूषक दिखलायी देते हैं। राजा दुष्यन्त हंसपदिका के गीत को सुनकर अत्यधिक उत्कण्ठित हो जाता है तथा विदूषक से कहता है कि हंसपदिका ने अति सुन्दर गीति गायी है। कञ्चुकी आकर कण्व-शिष्यों के आगमन की सूचना देता है। नेपथ्य में दो स्तुति-पाठक राजा का स्तुतिगान करते हैं। राजा दुष्यन्त यज्ञशाला में शकुन्तला सहित गौतमी तथा कण्व के दोनों शिष्यों से मिलता है। तभी शकुन्तला का वामेतर नेत्र फड़कने लगता है। अमङ्गल की आशङ्का से वह भयभीत हो जाती है। दुर्वासा के शाप के कारण राजा सारा प्रणयवृत्तान्त भूल जाता है। अतः लावण्यवती शकुन्तला को देखकर वह उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता है। वह शार्ङ्गरव तथा शारद्वत से कुशल-क्षेम पूछता है। वे दोनों ऋषि-कुमार राजा को कण्व का संदेश सुनाते है—"शकुन्तला तथा दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह का मैंने अनुमोदन कर दिया है अतः

गर्भवती शकुन्तला को आप स्वीकार करें।'' राजा यह सुनकर आश्चर्यान्वित हो जाता है और शकुन्तला के साथ विवाह की घटना को असत्य बतलाता है। गौतमी शकुन्तला का मुख दिखाती है फिर भी राजा नहीं पहचानता। शकुन्तला अभिज्ञान (अंगूठी) को दिखाने का उपक्रम करती है परन्तु इससे पूर्व कि वह शङ्का का निवारण करे, देखती है कि अंगूठी अंगुली में नहीं है। गौतमी कहती है कि वह अंगूठी शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल की वन्दना के समय गिर गयी है। शकुन्तला संयोग के दिनों के मधुर प्रसङ्गों को सुनाती है पर राजा को कुछ भी याद नहीं आता। अंगूठी न दिखा पाने के कारण राजा शकुन्तला को कपट-व्यवहार करने वाली स्त्री समझता है। इस पर क्रोधावेश में शारद्वत राजा को खरी-खोटी सुनाता है और शकुन्तला को वहीं छोड़कर चला जाता है। उसी के साथ शार्ङ्गरव और गौतमी भी चली जाती हैं।

राजा अनिश्चयावस्था में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में राजगुरु स्थिति सँभालता हैं। वह कहता है कि सन्तानोत्पत्ति तक शकुन्तला उसके घर रहेगी। यदि सिद्ध पुरुषों की भविष्यवाणी के अनुसार शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र चक्रवर्ती-लक्षणों से समन्वित होगा तो शकुन्तला को अन्तःपुर में स्थान दिया जायेगा, अन्यथा दोंनो को कण्वाश्रम में पहुँचा देना उचित होगा। राजा सहमत हो जाता है। शकुन्तला रोती हुई पुरोहित के पीछे चल पड़ती है। इतने में अप्सरा-तीर्थ में स्त्री रूप एक दिव्य-ज्योति उसे उठा ले जाती है। इस घटना से राजा को सन्देह होता है कि कहीं वह भूल तो नहीं कर रहा है।

षष्ठ अङ्क—प्रारम्भ में नगर-रक्षक श्याल और पीछे बंधे एक मनुष्य को लेकर दो रक्षी (सिपाही) मञ्च पर आते हैं। रक्षी पुरुष को पीटकर पूछते हैं कि राजा के नाम से चिह्नित यह अँगूठी उसके पास कहाँ से आयी ? वह बतलाता है शक्रावतार तीर्थ में फँसाई गई मछली का पेट फाड़ने पर उसके अन्दर से यह अंगूठी मिली है। उसकी बात की पुष्टि के लिये नगर-रक्षक (श्याल) यह सूचना राजा को देता है तथा राजा के कहने से अँगूठी के बराबर धन देकर उसे छोड़ देता है। श्याल धीवर के साथ प्रसन्न होकर मदिरा की दुकान पर जाता है।

मेनका की सखी सानुमती नामक अप्सरा अन्तर्धान होकर राजा दुष्यन्त के प्रमदवन में उसकी दो परिचारिकाओं की बातें सुनती है। वसन्त का मादक सौन्दर्य चारों तरफ विकीर्ण हो रहा है और परिचारिकायें कामदेव की पूजा कर रही हैं। तभी कञ्चुकी आकर उनको फूल तोड़ने का निषेध करता है एवं कहता है कि राजा ने मदनोत्सव का निषेध कर दिया है। उन परिचारिकाओं द्वारा निषेध का कारण पूछने पर कञ्चुकी बतलाता है कि अँगूठी के दर्शन से राजा की स्मृति सजीव हो गयी। परिणामस्वरूप जब उसे शकुन्तला के साथ अपने गान्धर्व विवाह का स्मरण आया तब से वह पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध हो रहा है। उद्विग्न मन होने के कारण उसने उत्सव का निषेध कर दिया है।

तदन्तर विदूषक के साथ राजा उद्यान में प्रेवश करता है। वह विदूषक को शकुन्तला का चित्र दिखलाता है तथा उसे (शकुन्तला को) अँगूठी देने का वृत्तान्त सुनाता है। सानुमती यह सब सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती है कि उसकी सखी शकुन्तला को भूला प्रणयी अब उसके प्रति अनुरक्त हो रहा है। राजा अनेक प्रकार से अपने को अपराधी स्वीकार करता हुआ खिन्न हो जाता है तथा शकुन्तना का चित्र मँगाकर उसमें परिवर्धन करने की कल्पना करके आँसू बहाता है।

तत्पश्चात् प्रतीहारी मंत्री का एक पत्र लाती है कि धनमित्र नामक एक व्यापारी नौका-दुर्घटना में मर गया। वह चूँकि सन्तानहीन है अतः उसका धन राजकोष में जायेगा। सन्तानहीन का प्रसङ्ग आने पर राजा इसलिए और दुःखी हो जाता है कि गर्भ-धारण करने वाली उसकी पत्नी उसके द्वारा छोड़ दी गयी। वंश-विच्छेद से अत्यन्त आकुल हो रहे पितरों की दशा को सोचकर उसका हृदय फट जाता है। यह दृश्य सानुमती देखती है और राजा के निश्चल प्रेम की जानकारी पर वह आश्वस्त होकर चली जाती है।

उसके बाद प्रतीहारी प्रवेश करती है। इसी समय इन्द्र का सारथि मातलि विदूषक को पकड़ कर पीटना शुरू कर देता है। उसकी रक्षा रकने के लिये राजा ध्वनि के सहारे शर-सन्धान करता है। तब विदूषक को छोड़कर मातलि राजा के समक्ष उपस्थित होता है और निवेदन करता है कि दुर्जय नामक राक्षसों को नष्ट करने के लिए आप इन्द्र से सहायता करें। राजा मातलि से पूछता है कि उसने माढव्य के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया ? तब वह उत्तर देता है, ''मैंने आपको अत्यन्त उद्विग्न देखा अतः वीरोचित कार्य के सम्पादन हेतु आपको उत्तेजित करने के लिये ऐसा कार्य किया।'' इन्द्र की आज्ञा को दृष्टिगत कर राजा मन्त्री पिशुन को प्रत्यावर्तन काल तक राज्य भार सौंप कर तथा इन्द्र के रथ पर आरूढ होकर स्वर्ग के लिये प्रस्थान करता है।

सप्तम अङ्क—राजा दानवों का विनाश करके इन्द्र की आशा पूरी करता है। इन्द्र राजा को एक विशाल समारोह में विदाई देता है। रथ से लौटते समय उसे हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि का आश्रम दिखलाई पड़ता है। दुष्यन्त मातलि के साथ रथ से उतर कर इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं और ब्रह्मा के पौत्र कश्यप तथा उनकी धर्मपत्नी अदिति के दर्शनार्थ जाता है। शुभ शकुन की द्योतक राजा की दक्षिण भुजा फड़कती है। इतने में ही राजा दो तपस्विनियों द्वारा अनुसरण किये जाते हुए एक बालक को देखता है। वह बालक सिंह-शावक को माँ का दूध नहीं पीने देता है एवं शावक का दाँत गिनने का प्रयत्न करता है। उस बालक को देखकर राजा का वात्सल्य उमड़ पड़ता है। वह उसे गोद में ले लेता है। तभी बच्चे का चक्रवर्ती-लक्षण युक्त हाथ भी देख लेता है। बच्चे की आकृति राजा दुष्यन्त से मिलती है। राजा उस बालक का वंश पूछता है। तपस्विनी के द्वारा शिशु के वंश का ज्ञान होने पर पुरुवंशी राजा के हृदय में आशा का सञ्चार होता है। तभी दूसरी तपस्विनी बालक

के लिये मिट्टी का मोर ले आती है और कहती है "सर्वदमन इस शकुन्त (पक्षी) का सौन्दर्य देख।" बालक को शकुन्त शब्द से माता का भ्रम हो जाता है। वह पूछता है "कहाँ है मेरी माँ ?" इस पर दुष्यन्त सोचता है कि क्या इसकी माता का नाम भी शकुन्तला है ? इतने में बच्चे के हाथ से गिरा हुआ रक्षासूत्र दुष्यन्त उठाने लगता है। तपस्विनी यह कहकर मना करती है कि माता-पिता के अतिरिक्त यह सूत्र उठाने वाले को सर्प बनकर डँस लेता है। परन्तु दुष्यन्त का कुछ भी अमङ्गल नहीं होता। वह मनोरथ पूर्ण होने पर बालक का आलिङ्गन करता है। तभी सूचना पाकर तपस्या के कारण कृश एवं वियोग-विधुरा शकुन्तला आती है। वह राजा को प्रणाम करती है। राजा अपनी विस्मृति के लिये उससे क्षमा-याचना करता है। उसी समय मातलि आता है। शकुन्तला एवं पुत्र-सहित राजा मारीच के दर्शन करता है एवं यथोचित आशीष प्राप्त करता है। मारीच योगबल से जान लेते हैं कि दुर्वासा के शाप के कारण ही शकुन्तला को दुष्यन्त ने विस्मृत कर दिया था। वह शाप अँगूठी-दर्शन से समाप्त हो गया और राजा निर्दोष है। मारीच सर्वदमन के भावी सम्राट् होने की बात कहते हैं। मारीच दोनों के सुखद संयोग के समाचार को कण्व तक पहुँचाते हैं। पुत्र-सहित दम्पत्ति को आशीर्वाद देकर विदा करते हैं। भरत-वाक्य के साथ सप्तम अङ्क समाप्त हो जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का मूल स्रोत

शकुन्तला की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण-इन दो प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। अब प्रश्न यह है कि महाकवि कालिदास ने महाभारत की कथा को अपने नाटक की कथा का आधार बनाया है अथवा पद्मपुराण की कथा को। पद्मपुराण एवं अभिज्ञानशाकुन्तल की कथावस्तु के साम्य के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह माना है कि कालिदास ने पद्मपुराण की कथा के आधार पर अपने नाटक की रचना की है परन्तु निम्नाङ्कित प्रमाणों के आधार पर उनके मत का समर्थन करना समीचीन नहीं है।

१. पद्मपुराण की रचना ईसा की छठीं या सातवीं शताब्दी में हुई है जबकि कालिदास का स्थिति-काल ई० पू० प्रथम शताब्दी है।

२. पद्मपुराण और शाकुन्तल के कथा-साम्य के आधार पर जिस प्रकार पद्मपुराण की कथा को शाकुन्तल की कथा का आधार माना जा सकता है उसी प्रकार शाकुन्तल की कथा को पद्मपुराण की कथा का आधार क्यों नहीं माना जा सकता ? वास्तविकता यह है कि पद्मपुराण की कथा महाभारत और शकुन्तला की कथा पर आधारित है। पद्मपुराण में वर्णित कथावस्तु का अधिकांश भाग शाकुन्तल की कथा का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है।

३. भाषा आदि की दृष्टि से अध्ययन करने पर भी पद्मपुराण कालिदास की परवर्ती रचना सिद्ध होता है।

४. कालिदास जैसे मौलिक महाकवि के लिए यह कथमपि सम्भव नहीं है कि वह पद्मपुराण की कथा को ज्यों का त्यों लेकर अपने नाटक की रचना करता।

५. ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में शाकुन्तल का कथानक अत्यधिक लोकप्रिय एवं लोकविश्रुत हो चुका था। अतः यह कहने में सन्देह का अवसर नहीं है कि पद्मपुराण के रचयिता ने शाकुन्तल की कथावस्तु को ही अपरिवर्तित रूप में ले लिया।

उक्त बिन्दुओं को दृष्टिगत कर पद्मपुराण की कथावस्तु को शाकुन्तल के कथानक का मूल नहीं माना जा सकता है। पद्मपुराण सम्बन्धी मान्यता का खण्डन हो जाने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि शाकुन्तल की कथा का मूल स्रोत महाभारत की कथा में निहित है।

महाभारत में शकुन्तला की कथा—महाभारत के आदिपर्व के शकुन्तलोपाख्यान में (सर्ग ६९ से ७४) शकुन्तला की कथा वर्णित है। कथा का सारांश निम्नाङ्कित है—

जनमेजय ने वैशम्पायन से दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा के विषय में जब अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने जनमेजय को इस प्रकार शकुन्तलादुष्यन्त की कथा सुनायी—"एक बार राजा दुष्यन्त ने अपनी विशाल सेना के साथ मृगया हेतु वन में प्रवेश किया। उस वन में उन्हें अनेक प्रकार के वृक्षों और यज्ञीय अग्नियों से युक्त एक आश्रम दिखलाई पड़ा। वह आश्रम कण्व ऋषि का था। राजा ने अपनी सेना को बाहर ही रोक दिया और मुनि के दर्शन हेतु अपने राजचिह्नों आदि को छोड़कर तपोवन में प्रवेश किया। उस समय महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला ने आकर उनका स्वागत किया। राजा उसके रूप लावण्य पर मुग्ध हो गया। राजा ने जब महर्षि कण्व के बारे में पूछा तब शकुन्तला ने बतलाया कि उनके पिता फलादि लाने के लिए बाहर गये हैं और थोड़ी ही देर में आ जायेंगे। राजा ने शकुन्तला से उसके जन्मादि के बारे में अपनी जिज्ञासा प्रकट की तथा साथ ही यह भी बतलाया कि वह उसके प्रति प्रेमासक्त हो गया है। जब शकुन्तला ने अपने को तपस्या-निरत धर्मज्ञ मनीषी कण्व की पुत्री बतलाया तब राजा ने अपने मन के संशय को यह कह कर प्रकट किया कि भगवान् कण्व ऊर्ध्वरेता एवं तपोनिष्ठ है अत: वह (शकुन्तला) उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस पर शकुन्तला ने अपनी वास्तविक उत्पत्ति की कथा सुनाई जिसके अनुसार उसकी उत्पत्ति महातपस्वी विश्वामित्र तथा मेनका से सम्पर्क से हुई। जन्म देने के अनन्तर उसकी माता मेनका उसे मालिनी नदी के तट पर छोड़कर इन्द्र के पास लौट गयी। वहाँ के पक्षियों ने उसकी (नवजात शिशु की) रक्षा की। जब भगवान् कण्व एक दिन स्नान करने के लिये मालिनी-तट पर गये तो वे पक्षियों से आवृत उसे अपने साथ उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे। चूँकि वह निर्जन वन में पक्षियों से आवृत (शकुन्तैः परिवारिता) थी अत: उसका नाम शकुन्तला रख दिया गया। इस प्रकार पालन पोषण करने के नाते कण्व उसके धर्मपिता हैं और वह उनकी धर्म-पुत्री। शकुन्तला की उत्पत्ति का वृत्तान्त

सुनने के बाद जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि वह क्षत्रिय है तब वह अनेक प्रलोभनों द्वारा उसे अपनी भार्या बनाने का प्रस्ताव करने लगा। पहले तो शकुन्तला ने पिता की अनुमति के बिना उसके प्रस्ताव को मानने में अपनी असमर्थता प्रकट की, पर बाद में दुष्यन्त के द्वारा गान्धर्व विवाह का औचित्य समझाने पर वह इस शर्त के साथ विवाह के लिये तैयार हो गयी कि वह (राजा) उससे उत्पन्न पुत्र को ही युवराज (राज्य का उत्तराधिकारी) बनायेगा। राजा ने 'एवमस्तु' कहकर प्रस्ताव मान लिया। दोनों का गान्धर्व विवाह हो गया। कुछ समय तक रहने के बाद राजा यह कहकर वापस चला गया कि वह शीघ्र ही उसे बुलाने के लिये अपनी चतुरङ्गिणी सेना भेजेगा। वहाँ से जाने के बाद राजा के हृदय में महर्षि कण्व के शाप का भय उत्पन्न हो गया क्योंकि उसने उनकी अनुमति के बिना ही गान्धर्व विवाह किया था। फलस्वरूप उसने शकुन्तला को बुलाने के लिये सेना नहीं भेजी।

जब महर्षि कण्व बाहर से आश्रम लौटे तो उन्हें अपने तपोबल से सारी घटना का पता चल गया। उन्होंने दुष्यन्त एवं शकुन्तला के विवाह का अनुमोदन कर दिया और शकुन्तला को यह आशीर्वाद दिया कि उसे चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी। गर्भ पूर्ण होने पर शकुन्तला ने एक अति तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। छः वर्ष की स्वल्पायु में ही वह महाबलवान् हो गया और वन के हिंसक पशुओं का भी दमन करने लगा। सभी का दमन करने के कारण महर्षि ने उसका नाम सर्वदमन रखा। अधिक समय तक विवाहिता पुत्री को अपने साथ रखना उचित न समझ कर कण्व ने सर्वदमन के सातवें वर्ष पुत्रसहित शकुन्तला को ऋषियों की देखरेख में राजा के पास भेज दिया। ऋषिगण शकुन्तला को वहाँ भेजकर वापस चले आये।

जब शकुन्तला राजा के समक्ष उपस्थित हुई तो राजा ने उसके साथ सम्पन्न अपने गान्धर्व विवाह को अस्वीकर कर दिया। उसने शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र को युवराज बनाने के शकुन्तला के प्रस्ताव को भी अमान्य कर दिया। यही नहीं, उसने शकुन्तला से जहाँ कहीं चले जाने को कहा। शकुन्तला ने करुणामय शब्दों में अनेक प्रकार से अनुनय विनय किया पर राजा ने सब कुछ अनसुनी कर दी। निराश होकर शकुन्तला वहाँ से जाने लगी। उसी समय आकाशवाणी हुई 'शकुन्तला का कथन सत्य है। वह उसकी विवाहिता पत्नी और सर्वदमन उसका पुत्र है अतः वह उनको स्वीकार करें।' पुरोहित और मन्त्रियों आदि की सम्मति से राजा ने शकुन्तला तथा सर्वदमन को स्वीकार किया। उक्त अवसर पर राजा ने अपने मन्त्रियों आदि से कहा कि उसे भी वृत्तान्त का स्मरण था पर उसने जानबूझ कर ऐसा इसलिये किया जिससे सर्वदमन के जन्म की शुद्धता के विषय में किसी को सन्देह न रह जाय। शकुन्तला को यह कहकर उसने आश्वस्त किया कि यदि वह ऐसा न करता तो लोग उसके आचरण के विषय में सन्देह करते। इसके साथ ही उसने शकुन्तला के द्वारा कहे गये कटु वचन के लिये भी उसे क्षमा किया।

अन्त में अपने प्रिय पुत्र एवं प्राण-वल्लभा पत्नी को पाकर राजा प्रसन्न हुआ और शकुन्तला को महारानी तथा सर्वदमन को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया। आकाशवाणी के अनुसार सर्वदमन का नाम भरत रखा गया।

मूलकथा में परिवर्तन

यद्यपि महाकवि कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान की कथा के आधार पर ही अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना की है, तथापि दोनों की कथावस्तु का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर महाभारत की नीरस कथा को किस प्रकार सजीव एवं सरस बना दिया है। सहृदय के हृदय का आह्लाद तथा उपदेश ये काव्य के दो मुख्य प्रयोजन हैं। सहृदय के हृदय का आह्लाद तब होता है जब काव्य अथवा नाटक में सम्यक् रस-योजना हो और उपदेश तब प्राप्त होता है जब नाटक अथवा काव्य के पात्रों के चित्रित आचरण अनुकरणीय एवं आदर्शपरक हों। इन्हीं दो बिन्दुओं को दृष्टिगत कर महाकवि लोकविश्रुत प्राचीन कथाओं को लेकर उसमें आवश्यक परिवर्तन अथवा परिवर्धन करता है। कहीं-कहीं तो उसे कथा के उस वंश का परित्याग भी कर देना पड़ता है जो नायक अथवा रस के विरुद्ध होता है। नाट्यशास्त्राचार्य धनञ्जय का निम्नांकित कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत॥ दशरूपक, ३.२४

महाकवि कालिदास ने नाट्यशास्त्र की इस मान्यता को दृष्टि में रखकर ही महाभारत के शकुन्तला विषयक इति-वृत्त को लेकर उसके अनुपयोगी अंशों का परित्याग कर दिया है, किन्हीं अंशों में आवश्यक परिवर्तन कर दिया है और कुछ कल्पनाप्रसूत कथांशों को जोड़ दिया है। सम्प्रति इन सब का विचार करणीय है—

१. महाभारत की कथा के अनुसार राजा दुष्यन्त मृगया-प्रसङ्ग में सेना सहित उस वन में प्रवेश करता है जिसमें कण्व का आश्रम है। आश्रम का ज्ञान होने पर वह अपनी सेना को बाहर रोककर स्वयं अकेले आश्रम में जाता है।

शाकुन्तल के अनुसार राजा अकेला ही सारथि के साथ मृग का पीछा करता हुआ आश्रम में प्रवेश करता है। उसकी सेना पीछे छूट जाती है।

२. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त के आश्रम में प्रवेश के समय कण्व फल लेने हेतु बाहर गये हैं। जबकि शाकुन्तल के अनुसार महर्षि कण्व शकुन्तला के प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ गये हुए हैं।

३. मूलकथानुसार महर्षि कण्व के फल लेने जाने की सूचना शकुन्तला स्वयं राजा दुष्यन्त को देती है जबकि शाकुन्तल में महर्षि कण्व के सोमतीर्थ जाने की सूचना राजा को वैखानस देता है।

४. मूल कथा में राजा के पूछने पर शकुन्तला स्वयं अपने जन्म का वृत्तान्त बतलाती है। परन्तु शाकुन्तल में शकुनतला के जन्म-विषयक वृत्तान्त को उसकी सखी अनसूया सुनाती है।

५. मूल कथा के अनुसार शकुन्तला राजा के प्रणय-निवेदन को इस शर्त पर स्वीकार करती है कि उसका पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। इसके विपरीत शाकुन्तल में शकुन्तला स्वयं ऐसी कोई शर्त नहीं रखती। उसकी सखी राजा से सपत्नियों के मध्य शकुन्तला को सम्मानित स्थान देने की बात कहकर आश्वासन लेती है।

६. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त शीघ्र ही तपोवन छोड़कर इसलिए चला जाता है कि कहीं इसी बीच महर्षि कण्व न टपक पड़ें। पर शाकुन्तल में राजा के राजधानी-गमन-विषयक किसी कारण का उल्लेख नहीं किया गया है।

७. मूल कथा के अनुसार शकुन्तला कण्व के आश्रम में ही एक पुत्र की जननी बनती है जबकि शाकुन्तल के अनुसार यह कार्य महर्षि कश्यप के आश्रम में होता है।

८. मूल कथा के अनुसार जब शकुन्तला का पुत्र भरत युवराज होने के योग्य हो जाता है तब वह राजा दुष्यन्त के पास जाती है। शाकुन्तल के अनुसार गर्भवती अवस्था में ही वह राजा के पास जाती है।

९. मूल कथा में राजा के पास पहुँचकर शकुन्तला राजा से भरत को युवराज बनाने के लिये अनुनय करती है पर राजा लोकापवाद के भय से शकुन्तला को जानते हुए भी पहचानने से मुकर जाता है। इसके विपरीत शाकुन्तल में शार्ङ्गरव एवं शारद्वत शकुन्तला के साथ जाते हैं और दुर्वासा द्वारा अभिशप्त होने के कारण राजा शकुन्तला को नहीं पहचान पाता।

१०. मूलकथा में दुष्यन्त के स्वीकार न करने पर शकुन्तला, कण्वाश्रम की ओर लौट आती है। पर शाकुन्तल के अनुसार उसको छोड़कर शार्ङ्गरव और शारद्वत लौट आते हैं और वहीं उसे एक अज्ञात शक्ति (मेनका) उठा ले जाती है।

११. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त आकाशवणी होने पर पुरोहितों आदि की उपस्थिति में उसे स्वीकार करता है। जबकि शाकुन्तल के अनुसार उसे महर्षि मारीच के आश्रम में ग्रहण करता है।

मूलकथा में परिवर्तन के उद्देश्य

कालिदास द्वारा मूल कथा में किये गये परिवर्तन के उद्देश्य निम्नांकित हैं—

१. मूल कथा में केवल फल लाने के लिये कण्व के बाहर जाने की अपेक्षा शाकुन्तल में शान्ति हेतु उनके सोमतीर्थ जाने की कथा अधिक सङ्गत है; क्योंकि शकुन्तला और दुष्यन्त के मिलन तथा गान्धर्व विवाह के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है।

२. मूल कथा में दुष्यन्त से शकुन्तला का स्वयं अपने जन्म का वृत्तान्त बताना कुमारी कन्या के अनुरूप नहीं है। शाकुन्तल में अनसूया द्वारा उसके (शकुन्तला के) वृत्तान्त का कथन सर्वथा समीचीन तथा शकुन्तला के चरित्र की रक्षा में समर्थ है। इसी प्रकार विवाह के पहले अपने पुत्र को युवराज बनाने का शर्तनामा भी कथमपि ठीक नहीं है, उसकी अपेक्षा अनूसया का शर्तविहीन अनुरोध अधिक उपयुक्त है। इससे शकुन्तला के हित तथा अनसूया के सख्य दोनों की रक्षा हो जाती है।

३. मूल कथा में कण्व के आश्रम में ही पुत्र की उत्पत्ति तथा शकुन्तला का दुष्यन्त की सभा में अपने पुत्र को युवराज बनाने का निवेदन एवं राजा का पहचानते हुए भी उसे स्वीकार न करना ये तीनों कार्य समीचीन तथा शोभनीय नहीं है। इसके विपरीत शाकुन्तल में प्रत्याख्यान के बाद पुत्रोत्पत्ति तथा शाप के कारण दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानना दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनों के व्यक्तित्व की रक्षा के लिए अधिक उपयोगी है। उक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त नाट्यकला-विशारद कालिदास ने निम्नांकित परिवर्धन कर कथा-वस्तु को रोचक, उपयोगी तथा उद्देश्ययुक्त बनाया है—

(१) शाप की कल्पना से जहाँ एक ओर दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा होती है वहीं दूसरी ओर शकुन्तला को सान्त्वना भी मिल जाती है। यही नहीं, शाप के अभाव में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को स्वीकार कर लेने पर पञ्चम अङ्क में नाटक समाप्त हो जाता है। शाप के कारण ही छठें तथा सातवें अङ्क के लिए कवि को अवसर मिलता है।

(२) मुद्रिका की परिकल्पना सर्वथा नवीन एवं कालिदास की सूक्ष्म बुद्धि की परिचायक है। यही घटना का मूल केन्द्र बिन्दु बनकर नाटक के नामकरण का कारण बनती है। यही नहीं, इससे वस्तु-संघटना में अपूर्व सहायता मिलती है। फलस्वरूप सप्तम अंक में दुष्यन्त-शकुन्तला का सुखद मिलन होता है। इन्द्र के आमन्त्रण पर दुष्यन्त का स्वर्ग जाना और वहाँ से मुनि कश्यप के आश्रम में लौटना आदि सभी घटनाएँ नाटक के सुखद-अवसान में सहायक होती हैं। अनसूया, प्रियंवदा, शार्ङ्गरव, शारद्वत आदि पात्रों की परिकल्पना से भी नाटक की सफलता में अपूर्व साहाय्य मिलता है।

इस प्रकार कालिदास ने केवल पञ्चम अंक तक ही पहुँचने वाली महाभारत की नीरस तथा निर्जीव कथा को लेकर अपनी नाट्य-प्रतिभा तथा अप्रतिम कल्पना के सहारे उसे सरस और सजीव बनाकर सप्तम अंक की सुखद मंजिल तक पहुँचा दिया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का नामकरण

महाकवि अपने काव्यों या नाटकों का नामकरण या तो नायक-नायिका के नाम पर करता है अथवा वर्ण्यविषय या किसी घटना विशेष के आधार पर, जो काव्य अथवा नाटक की केन्द्र बिन्दु होती है। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, मालती-माधव आदि प्रथम कोटि के उदाहरण हैं जबकि मृच्छकटिक, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, वेणीसंहार, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि द्वितीय कोटि के। शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप से विस्मृत शकुन्तला का स्मरण नायक दुष्यन्त को मुद्रिका रूप अभिज्ञान (पहचान) के द्वारा होता है। अतः इस नाटक का नाम अभिज्ञानशाकुन्तल है। विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की है जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

१. 'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्'। अभि उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु से करण अर्थ में 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से ल्युट् प्रत्यय; अभि+ज्ञा+ल्युट् = अभिज्ञानम्। शाकुन्तलम् — शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम्। यहाँ पर 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्।' इस वार्तिक से उत्तर पद का लोप होकर अभिज्ञानशाकुन्तलम् निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है—शकुन्तला विषयक वह नाटक जिसमें अङ्गुलीय रूपी अभिज्ञान प्रधान है।

२. अथवा, अभिज्ञानसहितं शाकुन्तलमभिज्ञानशाकुन्तलम् उत्तर पद 'सहित' का लोप। तात्पर्य है—अभिज्ञान के वर्णन से समन्वित शकुन्तला विषयक नाटक।

३. अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्। अभि+ज्ञा+ल्युट् (करण के अर्थ में) जिसके द्वारा पहचाना जाय उसे अभिज्ञान कहते हैं। अभिज्ञानेन स्मृतम्-अभिज्ञानस्मृतम्। शकुन्तलायाः इदमिति शाकुन्तलम् (शकुन्तला का परिणय) अभिज्ञानस्मृतञ्च तत् शाकुन्तलञ्च इति अभिज्ञानशाकुन्तलम् अर्थात् अभिज्ञान के स्मरण से किया हुआ शकुन्तला का पाणिग्रहण। औपचारिक अभिन्नता के कारण नाटक को अभिज्ञानशाकुन्तलम् कहा जाता है।

४. अभि+ज्ञा+भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय। शकुन्तलायाः इदमिति शाकुन्तलम्। शकुन्तला+अण् प्रत्यय ('तस्येदम्' सूत्र से) अभिज्ञानञ्च तत्शाकुन्तलञ्चेत्यभिज्ञानशाकुन्तलम्। 'मयूरव्यंसकादयः' सूत्र से समास। अर्थ है—अभिज्ञान से याद की गयी शकुन्तला। उपचार की अभिन्नता से नाटक को 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' कहा जाता है।

५. अभिज्ञानञ्च शकुन्तला चेत्यभिज्ञानशाकुन्तले ते अधिकृत्य कृतं नाटकम् 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्।' अभिज्ञानशाकुन्तल+अण्, अभिप्राय है—अभिज्ञान एवं शकुन्तला विषयक विरचित नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

कतिपय विद्वान् जिनमें प्रो० काले, प्रो० राय, प्रो० गोस्वामी, प्रो० बोस आदि प्रमुख हैं, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इस नाटक का मौलिक नाम 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' मानते

हैं। उस अवस्था में इसकी व्युत्पत्ति अधोलिखित रीति से की जायगी—'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्' अभि+ज्ञा+ल्युट् (करणे ल्युट्), अभिज्ञानेन स्मृता अभिज्ञानस्मृता। अभिज्ञानस्मृता शकुन्तला यस्मिन् (नाटके) तदभिज्ञानशकुन्तलम्।' शाकपार्थिवादि० इस वार्तिक से उत्तर पद 'स्मृता' का लोप अर्थात् अभिज्ञान से स्मृत शकुन्तला।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

शाकुन्तल का नाटकत्व

रूपक के दस भेदों में शाकुन्तल 'नाटक' नामक भेद के अन्तर्गत आता है। क्योंकि इसमें नाटक के अधिकांश लक्षण घटित हो जाते हैं।

१. **वस्तु**—'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्' इस लक्षण के अनुसार शाकुन्तल की कथावस्तु महाभारत से ली गयी है। अतः वह प्रख्यात है।

२. **नायक**—नाटक के लक्षणानुसार नाटक का नायक प्रख्यातवंशी कोई राजर्षि हो सकता है, जो धीरोदात्त कोटि का हो—'प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।' शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त का सम्बन्ध इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रवंश से है तथा वह नायक के धीरोदात्त कोटि में आता है।

३. **रस**—नाटक का मुख्य रस शृंगार अथवा वीर होता है, अन्य रस उसके सहायक होते हैं—'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। अङ्गमन्ये रसाः सर्वे।' शाकुन्तल में शृंङ्गार रस मुख्य है तथा वीर, भयानक, हास्य आदि (रस) उसके अङ्ग रूप से निबद्ध हैं।

४. **अङ्क**—नाटक में पाँच से दस अङ्क होते हैं—'पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।' शाकुन्तल में कुल सात अङ्क हैं।

५. **सन्धि**—नाटक में पाँच सन्धियों का विधान होता है—'पञ्चसन्धिसमन्वितम्' तथा निर्वहण सन्धि में अद्भुत कार्यों की योजना होती है। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के 'ततः प्रविशति मृगानुसारी' से लेकर द्वितीय अङ्क के 'इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ' तक मुख-सन्धि; द्वितीय अङ्क के 'माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि' से लेकर तृतीय अङ्क की समाप्ति तक प्रतिमुख सन्धिः, चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ से लेकर पञ्चम अङ्क के 'इति यथोक्तं करोति' तक गर्भ सन्धिः, पञ्चम अङ्क के 'शकुन्तलां निर्वण्यात्मगतं' से लेकर षष्ठ अङ्क की समाप्ति तक विमर्श सन्धि तथा सम्पूर्ण सप्तम अङ्क में निर्वहण सन्धि है। सप्तम अङ्क में निबद्ध निर्वहण सन्धि में अनेक अद्‌भुत कार्यों का भी विधान किया गया है।

नाटक में सुख-दुःखादि की स्थिति तथा अन्य विधेय कार्यों का विधान करके उसे (नाटक को) सर्वाङ्गपूर्ण बनाया गया है। अतः नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से शाकुन्तल एक सफल नाटक है।

काव्येषु नाटकं रम्यम्
अथवा
नाट्य की महत्ता एवं वैशिष्ट्य

१. सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन—नाट्य या रूपक एक ऐसा सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन (सार्ववर्णिक क्रीडनीयक) है जिसकी रचना सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय हुई है, क्योंकि देवताओं के समाज-हित-चिन्तन की इच्छा को ध्यान में रखकर ही ब्रह्मा ने उसकी सृष्टि की है—

''क्रीडनीयकमिच्छामि दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ।।''

ना०शा० १/१ प्र० अ० ।।

चार वेदों से केवल तीन वर्णों का ही हितसाधन होता है पर इस सार्ववर्णिक पञ्चम वेद (नाट्य) से तो निर्धन-धनी, सवर्ण-असवर्ण सभी का मनोरञ्जन तथा हित होता है। नाट्य से सभी वर्ग के लोग आनन्दानुभूति करते हैं क्योंकि दृश्य होने से वह हृद्य (रमणीय) है और श्रव्य होने से व्युत्पत्तिप्रद (उपदेशजनक)। इस प्रकार वह एक ही साथ सहृदय के हृदय में आनन्दानुभूति भी जगाता है तथा उसे कान्तासम्मित उपदेश भी देता है—

'दृश्यं हृद्यं व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिप्रदम्''—अभिनवभारती – ना०शा०, प्र०अं०।

वस्तुतः नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाट्य को सार्वजनिक मनोरञ्जन के साधन के रूप में स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने यदि नाट्य को विभिन्न रुचि वाले प्राणियों के लिये एक सा आनन्द प्रदान करने वाला अद्वितीय समाराधन माना तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं–''नाट्यं भिन्नरुचेः जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम''— मालविकाग्निमित्र १/४ ।।

२. व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता—नाट्य अपने विषय की परिधि में सारे त्रैलोक्य के चर-अचर को समेट लेता है। उसमें समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन (प्रदर्शन) होता है। संसार का कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है, जो नाट्य में न हो—

त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।। ना०शा० १/१०७

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।। ना०शा० १/११६

नाट्य तो प्राणिमात्र के नाना भावों तथा अवस्थाओं के चित्रण से युक्त तथा लोकवृत्त के अनुकरण से संवलित ऐसी काव्य-विधा है जो श्रमार्त्त तथा शोकार्त सभी लोगों के लिये विश्रान्तिजनक, हितकारक तथा उपदेशप्रद है—

"विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतत् भविष्यति ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति" ।। ना० शा० । प्र०अ० ।।

३. सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का योग—नाट्य में ऐसा कोई भाव और अवस्था नहीं जिसका चित्रण न हो, ऐसा कोई लोकवृत्त नहीं जो उपेक्षित हो। उसमें तो उत्तम, मध्यम, अधम सभी नरों का चित्र है। यथार्थ होने से वह सत्य है, हितोपदेशजनक होने से शिव है और विश्रान्तिजनक तथा विनोदजनक क्रीडनीयक होने से वह सुन्दर है। क्या सत्यं शिवं सुन्दरं का ऐसा मनोहर योग काव्य की किसी विधा में सम्भव है ?—ना० शा० १।११२-११५।

४. रसानुभूति की सुगमता—सहृदय के हृदय का आह्लाद अर्थात् सहृदय के हृदय में रसानुभूति जगाना ही काव्य का उद्देश्य हैं रसानुभूति का मूल कारण स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के साथ संयोग है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" ।

दृश्य-काव्य में रङ्गमंच पर उपस्थित पात्रों की वेशभूषा, उनके आकार, उनकी भाव-भङ्गिमा, संवाद आदि से एक सजीव, मनोहर तथा हृदयग्राही बिम्ब खड़ा हो जाता है जिससे सहृदय जन का रसानुभूति का मार्ग निर्बाध ही नहीं प्रत्युत सुगम भी हो जाता है। इसी अभिप्राय को दृष्टि में रखकर **"नाटकान्तं कवित्वम्"** कहा गया है। वस्तुतः काव्य का चरम लक्ष्य नाट्य से प्राप्त हो सकता है।

श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य की श्रेष्ठता—

(१) श्रव्य काव्य में सहृदय श्रवण अथवा पठन के द्वारा रसानुभूति की चेष्टा करता है उसे अपनी कल्पना के सहारे तत्सम्बन्धी समस्त बिम्ब को कल्पित करना पड़ता है। उसमें शब्द ही मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं। फलस्वरूप उसकी अनुभूति में वह तीव्रता, सजीवता तथा मनोहरता नहीं आ पाती जो अपेक्षित होती है। इसके विपरीत दृश्य काव्य में अभिनेताओं के द्वारा किये जाने वाले चार प्रकार के अभिनयों से वर्ण्य का साक्षात् बिम्ब खड़ा हो जाता है, फलस्वरूप उसे (सहृदय को) कल्पना के अनावश्यक प्रपञ्च में नहीं जाना पड़ता।

(२) श्रव्य काव्य के माध्यम से शिक्षित समाज ही रसानुभूति कर सकता है पर नाट्य के द्वारा सर्वसाधारण आनन्दानुभूति कर सकता है। इसीलिये भरत ने उसे सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन कहा है।

(३) दृश्य काव्य में दर्शक और नाट्यपात्रों में साक्षात् सम्बन्ध रहता है जिससे अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। इसके विपरीत श्रव्य काव्य में कवि के माध्यम से सम्बन्ध होता है फलतः अनुभूति में तीव्रता नहीं आ पाती।

(४) दृश्य काव्य में संगीत, वाद्य, दृश्यविधान आदि काव्यात्मक प्रभाव की वृद्धि में विशेष रूप से सहायक होते हैं और उसकी कथावस्तु संवाद के सहारे आगे बढ़ती है जिससे सहृदय का मन उसमें लगा रहता है। उसके विपरीत श्रव्य काव्य में अधिकांश रूप में वर्णन के द्वारा वस्तु आगे बढ़ती है जिससे पाठक के हृदय में कौतूहल-वृत्ति जाग्रत नहीं होती जो आनन्द की एक प्रमुख कड़ी है।

(५) यद्यपि दृश्य काव्य का आनन्द नेत्र तथा श्रवण दोनों के द्वारा प्राप्त होता है पर वह (दृश्य काव्य) प्रधानतः चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है जबकि श्रव्यकाव्य श्रवणेन्द्रिय का। प्रत्यक्षतः देखी गयी वस्तु श्रवणगोचर वस्तु की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं रमणीय होती है। इसीलिए कालिदास ने नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहा है—**''शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्''**– माल० १।४।।

(६) श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य दोनों में कान्तासम्मित उपदेश रहता है। पर 'क्रीडनीयक' होने से नाट्य गुडप्रच्छन्न कटु औषध के समान चित्त को सन्मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देता है—

''इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटु औषधकल्पं चित्तविक्षेपमात्रफलम्''।

अभिनवभारती, पृ० ६७।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखने पर यह बात आपाततः स्पष्ट हो जाती है कि नाट्य अथवा रूपक काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा आह्लादकर तथा मनोरम है। अतः उसके विषय में यह उक्ति सर्वांशतः सत्य एवं समीचीन है—**''काव्येषु नाटकं रम्यम्।''**

तत्र रम्या शकुन्तला
अथवा
अभिज्ञानशाकुन्तल का वैशिष्ट्य
अथवा
कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिज्ञानशाकुन्तल संस्कृत-साहित्य ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। पाश्चात्त्य विद्वानों को संस्कृत-साहित्य के प्रति उन्मुख करने का श्रेय शाकुन्तल को ही है। आज महाकवि कालिदास को सम्पूर्ण विश्व में जो एक महनीय स्थान प्राप्त है उसमें भी इस अमर कृति का ही बहुमूल्य योगदान है। विद्वन्मण्डली काव्य में नाटक को रमणीय मानती है और नाटक में भी अभिज्ञानशाकुन्तल को सर्वश्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित करती है.

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला"

अब प्रश्न यह है कि शाकुन्तल में वे कौन से गुण विद्यमान हैं जिनके कारण वह (शाकुन्तल) भारतीय तथा अभारतीय दोनों (प्रकार के) विद्वानों की प्रशंसा का भाजन बना है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें कालिदास की काव्य-प्रतिभा, नाट्यकला, काव्यशैली, रससर्जना आदि सभी का आकलन करना होगा। कालिदास तथा उनकी अमर कृति शाकुन्तल की प्रायः सभी विशेषताओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है और उनका सही आकलन कर लेने पर शाकुन्तल के सार्वभौम माहात्म्य का कोई अंश शेष अथवा अस्पृष्ट नहीं रह जाता फिर भी उसकी महनीयता के कारणों की ओर यहाँ सङ्केत मात्र किया जा रहा है—

१. कालिदास ने अपनी अप्रतिम नाट्य-कला के बल पर इस नाटक की कथावस्तु की ऐसी संघटना की है जिससे आदि से लेकर अन्त तक सारी घटनायें अति स्वाभाविक ढंग से गतिशील होती है। कथावस्तु का कोई भी अंश न अनावश्यक है और न ही अनुपयोगी। वस्तुयोजना सम्बन्धी इस नाट्यकौशल ने शाकुन्तल को इतना आकर्षक एवं आह्लादकर बना दिया है कि पाठक एक ही बैठक में पूरे नाटक को देखने या सुनने के लिये लालायित हो जाता है। (एतदर्थ 'कालिदास की नाट्यकला' का वस्तुसंघटना अंश द्रष्टव्य है)।

२. शाकुन्तल में नाट्य के द्वितीय तत्त्व नेता अर्थात् पात्रों का संयोजन भी नितान्त सुन्दर तथा भव्य है। सारे पात्रों के क्रिया-कलाप नाटक के चरम उद्देश्य की पूर्ति में साहाय्य प्रदान करते हैं। कालिदास की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अद्भुत कला ने सभी पात्रों को सजीव एवं क्रियाशील बना दिया है तथा उनके वास्तविक स्वरूप को हमारे सामने मूर्तिमान् कर दिया है। वैयक्तिकता से मण्डित पात्र हमारे इतने नजदीक हो जाते हैं कि हम उनके साथ तादात्म्यानुभूति कर अनायास ही काव्यानन्द की प्राप्ति कर लेते हैं। (एतदर्थ पात्रों का चरित्र-चित्रण द्रष्टव्य है।)

३. नाटक में नाट्य के तृतीय तत्त्व रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। शृङ्गार रस के मूर्धन्य कवि कालिदास की कमनीय कला को यहाँ खेलने का पूरा अवसर मिला है। फलतः शृङ्गार के दोनों पक्षों का उन्होंने हृदयग्राही उद्घाटन किया है। शृङ्गार के साथ ही बीच में कारुण्य का पुट देकर उन्होंने उसे और रमणीय बना दिया है। शृङ्गार के संयोग पक्ष से आरम्भ कर उसकी संयोग पक्ष में ही समाप्ति से नाटक सहृदयों के मानस-मन्दिर में इस प्रकार प्रतिष्ठित हो गया है कि उसे वहाँ से स्थानान्तरित करना सम्भव नहीं है।

४. कालिदास की परिकल्पना के अग्रदूत विदूषक के द्वारा की गयी हास्य सर्जना दुष्यन्त का तो जी हलका करती ही है साथ ही वह सहृदयों के हृदय को भी आकर्षित एवं स्फूर्तिमय बना देती है, जिससे वह (सहृदय) प्रसन्न मुद्रा में नाट्य रस का आस्वादन करता है। (द्रष्टव्य विदूषक का चरित्र-चित्रण ।)

५. शाकुन्तल की भाषा पात्रोपयुक्त, अतीव सरल, प्रसादगुणमयी, लालित्यपूर्ण और मुहावरेदार है। उसके संवाद इतने स्वाभाविक, रोचक तथा मनोवैज्ञानिक हैं कि पाठक स्वयं नाटक का पात्र बनकर संवाद में भाग लेने के लिये लालायित हो जाता है। भाषा और संवाद के इन गुणों ने नाटक की कीर्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। (द्रष्टव्य कालिदास की भाषा एवं संवाद अंश।)

६. कालिदास की वैदर्भी शैली का इस नाटक में पूर्ण परिपाक है। यहाँ उनके वर्णनकौशल के प्रख्यापन का भी अवसर मिला है। वर्णनकला से वर्ण्यविषय (आश्रम, भयभीत मृग, शकुन्तला आदि) आँखों के समक्ष नाचने लगता है।

इस नाटक में कालिदास ने प्रेम एवं सौन्दर्य के कोमल एवं मधुर स्वरूप को अतीव चारु ढंग से उद्घाटित किया है जिसके कारण नाटक का पूरा वातावरण मनोमोहक एवं सरस हो गया है। (द्रष्टव्य प्रेम एवं सौन्दर्य-चित्रण)

इस नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है प्रकृति का मानवीकरण। कालिदास जैसे प्रकृतिप्रेमी एवं सरसहृदय कवि के हाथों पड़कर प्रकृति भी दुष्यन्त, शकुन्तला, अनसूया तथा प्रियंवदा आदि की भाँति सजीव पात्र बन गई है। पूरे आश्रम के वातावरण में साम्यवाद छा गया है। प्रकृति यदि मानव जगत् के सुख-दुःख में भाग लेती है और उसके सौन्दर्यादि गुणों को द्विगुणित करती है तो मानव भी उसके प्रति पुत्र, भाई-बहिन का सा व्यवहार करता है। यही नहीं मानव (शकुन्तला आदि) उसकी सेवा में ही रत रह कर अपने जीवन को कृतार्थ करता है। कालिदास की इस प्रकार की अनुपम प्रकृतिचित्रण सम्बन्धी कला ने नाटक की कीर्तिकौमुदी को दिग्दिगन्त में विकीर्ण कर दिया है (द्रष्टव्य प्रकृति-चित्रण भाग)।

इस प्रकार वस्तुयोजना, पात्र एवं प्रकृति का चित्रण, प्रकृति-मानव तादात्म्य, अपूर्व वर्णन-कौशन, मनोहर रस-योजना, भाषा-लालित्य आदि सभी दृष्टियों से अभिज्ञानशाकुन्तल संस्कृत काव्य-जगत् का ही नहीं अपितु समस्त विश्व-साहित्य का महनीय अङ्ग बन गया है। उक्त गुणों से मण्डित शाकुन्तल की पाश्चात्य विद्वान् महाकवि गेटे ने यदि निम्नाङ्कित रूप से प्रशस्ति की तो उसमें न कोई अतिशयोक्ति है और न ही चाटुकारिता—

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्।।

भारतीय आलोचकों ने शाकुन्तल को कालिदास का सर्वस्व तथा नाटका में सर्वाधिक रमणीय घोषित किया है—

"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्"
"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला"

मेरी सम्मति में शाकुन्तल कालिदास के ही साहित्य अथवा अन्य समस्त नाटकों का सर्वस्वभूत नहीं है अपितु विश्व साहित्य का देदीप्यमान काव्यरत्न है—

"विश्वसाहित्यस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्"

तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः

सहृदयों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वस्तुतः यह अङ्क महाकवि कालिदास की नाट्यकला का चरमोत्कर्ष है। इस अङ्क में उनकी काव्य-प्रतिभा, अनुपम नाट्यकौशल, अप्रतिम प्रकृति-प्रेम, भावना की सरसता, लौकिक ज्ञान की गरिमा आदि के साक्षात् दर्शन होते हैं। चतुर्थ अङ्क की कतिपय विशेषतायें निम्नांकित हैं—

१. छाया की भाँति सदा साथ रहने वाली अनसूया तथा प्रियंवदा की ऊहापोहमय स्थिति से इस अङ्क का प्रारम्भ होता है। इस अङ्क के विष्कम्भक में दुष्यन्त के चिन्तन में सुध-बुध खोयी शकुन्तला के द्वारा अतिथि-सत्कार न करने पर उसके ऊपर महर्षि दुर्वासा का शाप रूपी वज्रपात तथा अनुनय-विनय करने पर किसी अभिज्ञान द्वारा पुनः दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के अभिज्ञान (पहचान) की कल्पना से नाटक के दो लक्ष्य सिद्ध हो जाते हैं। प्रथम उसके भावी वियोग का मार्ग निर्बाध हो जाता है। दूसरे अभिज्ञान की योजना से नाटक के नाम की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार नाट्य-कथानक में आमूल परिवर्तन का सूत्रपात होता है। वस्तुतः शाप और मुद्रिका की कल्पना ने क्रमशः त्याग और बलिदान से प्रेम को पवित्र करने तथा नाटक को सुखान्त बनाने में अभूतपूर्व भूमिका निभायी है।

२. प्रातःकाल के वर्णन में एक ही साथ चन्द्रमा के अस्ताचल को जाने तथा सूर्य के उदयाचल पर्वत पर आरूढ होने के द्वारा संसार के प्राणियों की दशाओं में अवश्यम्भावी परिवर्तन का नियमन—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।।४/२।।

प्रकारान्तर से इस बात का संकेत करता है कि मानव-जीवन में सुख (प्रणय-जनित आनन्द) सदा स्थायी नहीं रहता। प्राणी को कड़वे घूँट भी पीने पड़ते हैं।

निम्नाङ्कित श्लोक में प्रणयी की उपेक्षाजनित शकुन्तला की असह्य मनोव्यथा को व्यञ्जित कराकर कवि ने अबला मात्र के प्रति करुणा एवं सहानुभूति जगायी है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।। ४/३।।

३. इस अङ्क में कालिदास ने मानव एवं प्रकृति को एक ही प्रणय सूत्र में बाँध दिया है। निसर्गसुकुमारी शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे सुसज्जित एवं अलङ्कृत करने के लिए वनस्पति आभूषण और वस्त्र देते हैं—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।। ४/५।।

महर्षि कण्व उनसे पुत्री शकुन्तला की विदाई का आदेश माँगते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। ४/९।।

पुत्रवत् विरहकातर मृग-शावक शकुन्तला को रोकने के लिए सत्याग्रह करता है **'को नु खल्वेष.......'** च०अ०। शकुन्तला की बहिन सरीखी लतायें विरह विदग्ध होकर आँसू बहाती हैं, भाई-सरीखे मृग तृण का ग्रास चबाना छोड़ देते हैं। मयूर नर्तन करना बन्द कर देते हैं-

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।। ४/१२।।

मानव और प्रकृति के बीच इतना तादात्म्य, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध अन्यत्र कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। क्या प्रकृति के द्वारा किया गया इस प्रकार का अनशन और सत्याग्रह किसी दूसरे कवि की कल्पना में सम्भव था ? अपनी सन्तान के वियोग में माता-पिता, भाई-बन्धु को विलखते तो सभी देखते हैं पर किसी के असह्य वियोग में लताओं को द्रवीभूत होते किसने देखा ? और पशु, पक्षी, वनस्पति आदि को मित्र, पुत्र, अभिभावक आदि के रूप में किसने सुना ?

४. कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिया गया शाश्वत एवं सार्वभौम उपदेश इसी अङ्क में है जो प्रत्येक वधू के जीवन-मार्ग में पदे-पदे पथ-प्रदर्शन करता है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।४/१८।।

५. पिता कण्व की अनुमति के बिना ही उनकी अनुपस्थिति में उनकी लाडली पुत्री के साथ गान्धर्व विवाह करने वाले बहुपत्नीक चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त को दिया जाने वाला सन्देश भी यही है—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं बधूबन्धुभिः ।।४/१७।।

६. वीतरागी महर्षि कण्व के तपः पूत एवं निर्विकार मानस को उद्वेलित करने वाले पुत्री-प्रेम का उद्घाटन भी—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजड दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।। ४/१६ ।।
शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ।। ४/२१ ।।

अन्य स्थलों में भी यही हुआ है। प्रणय-पारखी महाकवि कालिदास की प्रेम भावना का जयघोष करने वाला आदर्श प्रेम भी इसी अङ्क में सजीव हो उठा है।

पूरा का पूरा चतुर्थ अङ्क सखीप्रेम, पितृप्रेम तथा पुत्रीप्रेम से ओत-प्रोत है। पिता कण्व पुत्री-स्नेह से कातर हैं, शकुन्तला की दोनों सखियाँ (अनसूया और प्रियंवदा) यदि अपनी प्रियसखी के हितचिन्तन-मूलक स्नेह से सिक्त हैं तो प्रकृति मानव-स्नेह की दीवानी ! पूरा आश्रम प्रेम के अखण्ड-साम्राज्य की दीप्ति से दीप्तिमान् हो गया हैं। यहाँ पर चतुर्थ अङ्क की महत्ता एवं वैशिष्ट्य को प्रख्यापित करने वाले पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के कथन को उद्धृत करना समीचीन होगा—

"कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम सन्देश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध

भाव और घटनायें, ये सब ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए हैं कि प्रतीत होता है कि यह अङ्क मानो शब्दनिर्मित मानव हृदय ही हो॥''— संस्कृत साहित्य की रूपरेखा।

तत्र श्लोकचतुष्टयम्

भारतीय समीक्षक-मण्डली अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की प्रशंसक होते हुए भी उसके चार श्लोकों की मनोहरता एवं उत्कृष्टता का विशेष गुणगान करती है—**''तत्र श्लोकचतुष्टयम्''**। चतुर्थ अङ्क में कुल २२ श्लोक हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि उनमें किन चार श्लोकों को सर्वश्रेष्ठ एवं मनोहर माना जाय ? इस प्रश्न का निर्विवाद समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि सभी ने अपनी तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि में चार श्लोकों का चयन किया है। मोटे तौर पर विद्वानों के मतों का आकलन करने पर चार श्लोकों के निम्नांकित छः वर्ग बन जाते हैं—

१—	क–यात्येकतो ४/२	२—	क–यास्यत्यद्य ४/६
	ख–यास्यत्यद्य ४/६		ख–उद्गलित ४/१२
	ग–शुश्रूषस्व ४/१८		ग–पातुं ४/९
	घ–उद्गलित ४/१२		घ–शममेष्यति ४/२१
३—	क–यास्यत्यद्य ... ४/६	४—	क–यास्यत्यद्य ४/१६
	ख–शुश्रूषस्व ४/१८		ख–शुश्रूषस्व ४/१८
	ग–अस्मान् ४/१७		ग–अभिजन ४/१९
	घ–भूत्वा ४/२०		घ–भूत्वा ४/२०
५—	क–यास्यत्यद्य ४/६	६—	क–यास्यत्यद्य ४/६
	ख–शुश्रूषस्व ... ४/१८		ख–शुश्रूषस्व ... ४/१८
	ग–अस्मान् ४/१७		ग–अभिजन ४/१९
	घ–पातुं ४/९		घ–रम्यान्तर ... ४/११

उक्त वर्गों की कुल श्लोक संख्या २४ हो जाती है परन्तु उन सभी वर्गों में निम्नांकित १० श्लोक ही यत्र तत्र परिगणित हैं—

१– यात्येकतोऽस्तशिखरं ... ४/२	६– अस्मान् ४/१७
२– यास्यत्यद्य ४/१६	७– शुश्रूषस्व ... ४/१८
३– पातुं न ४/९	८–अभिजन ४/१९
४– रम्यान्तरः ४/११	९– भूत्वा ४/२०

५–उद्‌गलित .... ४/१२ १०– शममेष्यति... ४/२१

उक्त दस श्लोकों में क्रम संख्या २ **'यास्यत्यद्य'** श्लोक ऐसा है जो सभी वर्गों में है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह श्लोक सभी दृष्टि में (निर्विवाद रूप से) सर्वोत्तम है। दूसरे स्थान पर सं. ७ **'शुश्रूषस्व'** श्लोक आता है जो एक वर्ग (संख्या २) छोड़कर सभी के द्वारा समादृत है। क्रमसंख्या ३,५,६,८,९ वाले श्लोक दो दो वर्गों में प्रतिष्ठित हैं। क्रम संख्या १,४ और १० वाले श्लोक केवल एक वर्ग में ही स्थान पा सके हैं।

मेरी सम्मति में निम्नाङ्कित चार श्लोक (वर्ग संख्या ५ में उल्लिखित) चतुर्थ अङ्क के सर्वोत्तम श्लोक हैं, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से चतुर्थ अङ्क का क्रमशः सारभूत कारुण्य, मानव तथा प्रकृति का तादात्म्य, आदर्शदाम्पत्य-जीवन के लिए उदात्त उपदेश तथा कण्व का दुष्यन्त के लिए सारगर्भित सन्देश व्यञ्जित होता है—

१–यास्यत्यद्य ... तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ४/६ ॥

२–पातुं न ..... सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ४/९ ॥

३–अस्मान् .... वधूबन्धुभिः ॥ ४/१७ ॥

४–शुश्रूषस्व .... वामाः कुलस्याधयः ॥ ४/१८ ॥

१. **''यास्यत्यद्य––''** इस श्लोक के माध्यम से पुत्री-वियोग की ऐसी उत्कट और असह्य वेदना व्यञ्जित हुई है जो वीतरागी एवं निर्विकारचेता महर्षि कण्व के अन्तःस्थल को भी झकझोर देती है। जिस प्रकार वियोग-विधुर क्रौञ्च पक्षी के करुणामय विलाप को सुनकर महर्षि वाल्मीकि का मूक शोक **'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः'** इस श्लोक के रूप में मुखरित हो गया **'शोकः श्लोकत्वमागतः'**। उसी प्रकार इस श्लोक में भी पिता कण्व की पुत्री-वियोग सम्बन्धी व्यथा मुखर हुई है। स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषकण्ठ तथा चिन्ताजडदर्शन कण्व की व्यथा को व्यञ्जित करने में भाषा का सौन्दर्य सहायक हो रहा है। इस प्रकार भाव एवं भाषा के मधुर संयोग से व्यञ्जित करुणा (करुण विप्रलम्भ) सहृदय के हृदय को हठात् रससिक्त कर देती है। इस श्लोक की सर्वोत्कृष्टता एवं समीचीन है— **''यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः''**॥

२. **''पातुं न प्रथमं.........''** इस श्लोक के माध्यम से एक ओर जहाँ प्रकृति-कन्या शकुन्तला का वनस्पतियों के प्रति स्वाभाविक स्नेहातिशय तथा सान्निध्य व्यञ्जित होता है वहीं दूसरी ओर समदर्शी महर्षि कण्व का शकुन्तला की ही भाँति, उन वृक्षों के प्रति भी वात्सल्यातिशय प्रकट होता है। इसके द्वारा प्रकृति और मानव के बीच परस्पर आत्मीय भाव का सजीव चित्रण किया गया है। कण्व की दृष्टि में शकुन्तला केवल उनकी ही बेटी नहीं अपितु वह पूरे आश्रम-निवासियों की बेटी है, अतः विदाई के लिये सभी से अनुमति माँगना सर्वथा उचित है। मानव एवं प्रकृति का यह मधुर सौहार्द भाव किसको नहीं अनुप्राणित करता !

३. **''अस्मान् !........''**दुष्यन्त के लिये भेजे गये कण्व के इस सन्देश में अनेक गम्भीर तथ्यों का उद्‌घाटन हुआ है। ''संयमधनान्'' जहाँ एक ओर यह द्योतित करता है कि महर्षि कण्व ने जिस प्रकार दुष्यन्त तथा शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को कृपा पूर्वक अनुमति प्रदान कर दी उसी प्रकार वे उसका अनादर होने पर शापादि दण्ड देने में भी समर्थ हैं, वहीं दूसरी ओर वह उनके (कण्व के) दहेज आदि न देने की असमर्थता की भी अभिव्यक्ति करता है। दुष्यन्त को उसके उच्च वंश का स्मरण कराने **'उच्चैः कुलं चात्मनः'** का अभिप्राय उसे अपने वचनों का पालन करने से है। बिना बन्धु बान्धवों की अनुमति के ही शकुन्तला की दुष्यन्त के प्रति स्नेह-प्रवृत्ति **'अबान्धवकृतां'** की चर्चा का लक्ष्य यही है कि दुष्यन्त उसके प्रति किसी भी प्रकार अपनी कृतघ्नता को प्रकट न करे क्योंकि शकुन्तला ने उसके लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में कण्व द्वारा अपनी पुत्री के लिए समान आदरभाव **'सामान्यप्रतिपत्ति'** की याचना तथा अधिक सुख की प्राप्ति को भाग्याधीन **'भाग्यायत्तमतः'** बतलाना तत्कालीन बहुपत्नी प्रथा की विवशता तथा बड़े जनों की भाग्यवादिता की अभिव्यक्ति कराता है। इस दृष्टि से यह सन्देश निस्सन्देह बहुत महत्त्वपूर्ण, मार्मिक तथा गम्भीर है।

४. **''शुश्रूषस्व गुरून्.....''**शकुन्तला को दिये गये कण्व के इस उपदेश में तो पूरी भारतीय संस्कृति ही प्रतिबिम्बित होती है। गुरुजनों की सेवा करना, सपत्नियों के प्रति सख्य-भाव रखना, पति के अपमान करने पर भी उसके प्रतिकूल न होना, सेवकों के प्रति कृपालु एवं उदार होना, भोग्य वस्तुओं के कारण अभिमान न करना, इन्हीं गुणों के कारण तो कोई भी नववधू गृहिणी पद की प्राप्ति कर सकती है। इन गुणों से विहीन नववधू पितृकुल एवं पतिकुल दोनों के लिये शोचनीय हो जाती है। पतिगृह को जाने वाली शकुन्तला को दिया जाने वाला यह उपदेश वस्तुतः समस्त नववधुओं के लिये दीक्षोपदेश है। इस प्रकार का सार्वभौम एवं शाश्वत उपदेश तो कालिदास जैसे भारतीय संस्कृति के उपासक महाकवि द्वारा ही सम्भव है।

कालिदास की भाषा एवं शैली

शैली—काव्य जगत् में महाकवि कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी परिष्कृत, प्रसादगुणमयी सरल-सरस शैली ही है। कालिदास वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं—

''वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते''।

शब्द-माधुर्य, रचना-लालित्य तथा समस्त पदों की स्वल्पता ही वैदर्भी रीति की विशेषताएँ हैं—

''माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते'' ।। सा०द० ।।

कालिदास की शैली की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. कालिदास की शैली अत्यन्त परिष्कृत है। उसमें रसानुकूल मधुर शब्दों का प्रयोग है। वाक्य छोटे होते हुए भी भावाभिव्यक्ति में सर्वथा समर्थ हैं। शाकुन्तल में सौन्दर्य-वर्णन आदि के अवसर पर भाव अथवा प्रसङ्ग के अनुकूल कवि ने कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः ।। २/१० ।।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं.....

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १/२० ।।

२. उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज सभी विराजमान हैं, पर प्रसाद और माधुर्य गुण का ही बाहुल्य है। द्रष्टव्य—शा० १/२०, १/२८, ३/११, ४/२२ आदि।

३. कालिदास की शैली अत्यन्त संक्षिप्त ध्वन्यात्मक है। वे अपने वर्ण्य-विषय का विस्तृत वर्णन न करके सूक्ष्म रूप में ही उसकी व्यञ्जना कराते हैं।

४. कालिदास की शैली की यह भी विशेषता है कि उन्होंने अपने काव्यों में ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग किया है जिनमें जीवन की सच्चाई और अनुभूति भरी हुई है। इसके लिये काव्यगत सूक्तियाँ ली जा सकती हैं।

५. कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी ध्वन्यात्मकता जिससे भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना मिल जाती है। शाकुन्तल के निम्नांकित स्थल एतदर्थ द्रष्टव्य हैं—

'दिवसाः परिणामरमणीयाः' - प्र० अङ्क

'आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि' - प्र० अङ्क

'यात्येकतोऽस्तशिखरं' - च० अंक

पञ्चम अङ्क में हंसपदिका का गीत आदि।

भाषा

(१) कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा परिमार्जित एवं परिष्कृत है। वे पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में अत्यन्त पटु हैं। जो पात्र जिस कोटि का है वह वैसी भाषा में अपने भाव का प्रकाशन करता है। कण्व की भाषा ऋषि के अनुरूप है—**'दिष्ट्या धूमाकुलित'** - चतुर्थ अङ्क। विदूषक की उक्तियाँ उसके पेटूपन स्वभाव के अनुरूप हैं। इसी प्रकार स्त्री पात्रों की भाषा भी उने स्वभाव के अनुकूल हैं।

(२) कालिदास की भाषा में अप्रचलित शब्दों का अभाव है। उनकी भाषा प्राञ्जल

तथा परिष्कृत है। उसमें न समास का बाहुल्य है न क्लिष्टता है। मुहावरों के प्रयोग से उनके वाक्य अत्यधिक स्वाभाविक एवं प्रभावशाली हो जाते हैं। ये सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं—

को नामोष्णोदकेन .. चतुर्थ अङ्क
किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते २/८ के आगे। नवम अङ्क
'कृतं भवता निर्मक्षिकम्'
अरण्ये मया रुदितमासीत् - २/३ के आगे।

(३) कालिदास के वाक्य छोटे और सारगर्भित होते हैं। भावों की अभिव्यक्ति में वे पूर्णरूपेण समर्थ होते हैं—

''अनाघ्रातं पुष्पं .....''शा० २/१०।
''अस्मान् साधु चिचिन्त्य ....''– शा० ४/१७ आदि।

उनकी भाषा में सरलता तथा मनोहरता के भी दर्शन होते हैं— **''सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।।**

''स्निग्धं वीक्षिमेमन्यतोऽपि नयने''–शा० २/२।

इत्यादि स्थलों में इस विशेषता के दर्शन होते हैं।

(४) **समाहार शक्ति**—कालिदास की भाषा में समाहार शक्ति है। वे नपी-तुली भाषा में भावों की व्यञ्जना कराने में पटु हैं—

'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्' — 'मधुरमासां दर्शनम्' — 'श्रुतं श्रोतव्यम्' 'स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य...'

इत्यादि स्थल इसके प्रमाण हैं।

(५) **ध्वन्यात्मकता**—भाषा की ध्वन्यात्मकता कालिदास की ऐसी विशेषता है जो उन्हें अन्य कवियों से पृथक् कर देती है। **'अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः**, च० अङ्कः 'तव न जाने हृदयम्' आदि में उनकी यह विशेषता परिलक्षित होती है।

कालिदास की नाट्यकला

कालिदास की काव्यकला को उदात्त एवं श्रेष्ठ बनाने में उनकी नाट्यकला का अपूर्व योगदान है। उनके तीनों नाटकों में उनकी नाट्यकला के पदे-पदे दर्शन होते हैं। उनकी वस्तु-संघटना, चरित्र-चित्रण तथा रस-योजना इतनी आकर्षक, हृदयग्राही, उपयुक्त तथा समीचीन है कि उनकी नाट्य रचनाओं को सहृदय के हृदय का भाजन बना देती है। हम यहाँ शाकुन्तल को दृष्टिगत कर संक्षेप में विचार करना चाहते हैं।

१. **वस्तुयोजना**—कालिदास ने महाभारत की नीरस कथावस्तु को परिवर्तित कर किस प्रकार उसे सरस और उपयोगी बनाया है यह बतलाया जायेगा। नाटक का **प्रथम अङ्क** मृगया-दृश्य से प्रारम्भ होता है। मृग का अनुसरण करते हुए राजा को मृग पर बाण चलाने के लिए ऋषिकुमार मना करते हैं। राजा मान जाता है और उनके अनुरोध पर आश्रम में राजा का प्रवेश स्वाभाविक हो जाता है। वह छिपकर आश्रम-कन्याओं की परिहासमयी बातों को सुनता है और भ्रमर से पीड़ित शकुन्तला की रक्षा हेतु सहसा उपस्थित होता है। तदन्तर दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर अनुराग हो जाता है। इसी बीच शकुन्तला के जन्म-वृत्तान्त की जानकारी होने पर उसके अनुराग में श्रीवृद्धि हो जाती है। इस प्रकार राजा के प्रवेश, आश्रम-कन्याओं के समक्ष उसकी उपस्थिति तथा शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम में एक प्रकार की स्वाभाविकता आ जाती है और साथ ही कथावस्तु की गतिशीलता में भी सहायता मिलती है। **द्वितीय अङ्क** में राजा की मृगया से विरति और विदूषक के साथ शकुन्तला के विषय में वार्तालाप, आश्रम में जाने के लिये व्याज को सोचते ही दो ऋषि-कुमारों की राजा से आश्रम में चलने के लिये प्रार्थना आदि घटनाओं से नायक-नायिका की प्रणय-कथा को गतिशील करने में सहायता मिलती है। विदूषक को राजधानी भेज देने से **तृतीय अङ्क** में दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। फलस्वरूप बड़े ही स्वाभाविक ढंग से विरही प्रणयी-युगल का संयोग होता है और दोनों गान्धर्व-विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं। गौतमी के प्रवेश द्वारा तृतीय अङ्क समाप्त होता है। गौतमी का प्रवेश भी गत्यवरोधक के रूप में कथावस्तु की गति को मन्द कर उसे सही राह पर ले जाता है। **चतुर्थ अङ्क** के विष्कम्भक में दुर्वासा के शाप की घटना तथा किसी अभिज्ञान के दिखाने पर शाप-मुक्ति का आश्वासन दोनों से ही वस्तु-योजना में अपूर्व सहायता मिलती है क्योंकि शाप की स्थिति न होने की दशा में दुष्यन्त के पहचान लेने पर पञ्चम अङ्क में ही कथा समाप्त हो जाती। शाप के कारण आगे दो अङ्कों की योजना स्वाभाविक हो जाती है। **पञ्चम अङ्क** में राजा के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर देने के बाद एक अप्सरा (दिव्य ज्योति) द्वारा ले जाना भी उक्त क्रम में सहायक होता है। षष्ठ अङ्क में धीवर प्रसङ्ग के द्वारा मुद्रिका प्राप्ति की घटना नितान्त महत्त्वपूर्ण है। उसके कारण राजा शकुन्तला को स्मरण करता है और विरहव्यथित होकर उसके मिलन के लिये तड़पता है और अन्त में इन्द्र के आह्वान पर अपनी कामुक वृत्ति का परित्याग कर राजा दुष्यन्त कर्त्तव्यपरायण पति के रूप में अपनी पतिव्रता पत्नी तथा चक्रवर्ती लक्षणों से युक्त पुत्र से मिलता है।

२. **चरित्र-चित्रण**—कालिदास की नाट्य-कला की दूसरी विशेषता है अनुकूल पात्रों की सृष्टि और उनका चरित्र-चित्रण। उन्होंने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। सभी पात्र अपने विशिष्ट गुणों से मण्डित हैं और समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

३. **रसयोजना**—रसवादी कालिदास ने अपनी रस-योजना के द्वारा भी अपने नाटक को अत्यन्त सरस तथा हृदयग्राही बनाया है। सहृदय रसास्वाद करता हुआ उनके नाटक को देखता या पढ़ता है।

४. **संवाद**—पात्रों के कथोपकथन घटनाओं एवं परिस्थितियों के सर्वथा उपयुक्त हैं। भाषा की सरलता, सुबोधता, स्वाभाविकता तथा लालित्य के कारण एक ओर काव्यानन्द प्राप्त होता है, दूसरी ओर संवाद के सहारे घटना आगे बढ़ती है।

कालिदास के नाटकों के संवाद अनावश्यक विस्तार से रहित हैं। शाकुन्तल के संवाद अतीव रोचक तथा संक्षिप्त हैं। नाट्यकला की दृष्टि से वे उपयोगी तथा स्वाभाविक हैं। प्रथम अङ्क में दुष्यन्त तथा तापस कन्याओं, द्वितीय अङ्क में राजा तथा विदूषक, तृतीय अङ्क में शकुन्तला, अनसूया, प्रियंवदा तथा राजा, चतुर्थ अङ्क में कण्व तथा अनसूयादि, पञ्चम अङ्क में राजा एवं शार्ङ्गरव तथा शकुन्तला के संवाद अतीव रोचक तथा पात्रों के स्वभाव एवं विषय के अनुकूल हैं। उनमें छोटे-छोटे किन्तु स्पष्ट वाक्यों का प्रयोग हुआ है।

५. **वर्णन-कुशलता**—उनकी नाट्यकला की एक यह भी विशेषता है कि उनकी वर्णन-शैली सर्वथा संक्षिप्त एवं सरस है। नपी तुली भाषा में नपे तुले ढंग से वे वर्ण्य विषय का वर्णन करते हैं जिससे काव्य-सौन्दर्य तो अवश्य रहता है पर नाट्य-स्वरूप खण्डित नहीं होता। शाकुन्तल में भयभीत मृग, दुष्यन्त, विरहाकुल शकुन्तला, मारीच आश्रम आदि के वर्णन उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं।

अलङ्कार-योजना

जिस प्रकार लोक में सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये आभूषणादि अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार कविताकामिनी को आकर्षक और भावस्पर्शी बनाने के लिये भी अलङ्कारों की आवश्यकता होती है। अलङ्कार शब्द की व्युत्पति भी इसी तथ्य का प्रकाशन करती है—**'अलं करोति इति अलंकारः'** अथवा **अलंक्रियते अनेन इति अलङ्कारः**। अलङ्कार की इसी अर्थवत्ता के कारण आचार्यों ने अपने-अपने काव्य-लक्षणों में उसे समुचित स्थान दिया है। एक ओर जहाँ भामह, जयदेव आदि काव्य में अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार करते हैं, वही दूसरी ओर भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य अलङ्कार की गौणता को ही मान्यता प्रदान करते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी इस दृष्टि से कवियों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग में वे कवि हैं जिनकी दृष्टि अलङ्कारपरक है। काव्य-जगत् के अलङ्कृत मार्ग के कवि इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी कोटि में रससिद्ध मार्ग के कवि आते हैं जो आत्मतत्त्वभूत रस को प्रधान मानकर सौन्दर्य-साधन के रूप में ही अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं। महाकवि कालिदास स्वभावतः रससिद्ध कवि हैं, अतः वे अलङ्कार की उपयोगिता तथा गौणता दोनों को अच्छी प्रकार समझते हैं। इसीलिये अलङ्कार के प्रयोग में वे अपनी रसमर्मज्ञता का ही परिचय देते हैं। अपनी कविताकामिनी की सौन्दर्यवृद्धि तथा भावाभिव्यञ्जना

के लिये वे अलङ्कारों का प्रयोग अवश्य करते हैं परन्तु वे उसे (कविताकामिनी को) अलङ्कारों के अनावश्यक भार से आक्रान्त नहीं करते।

अलङ्कार के शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार ये दो भेद होते हैं। चित्रकाव्य के चित्रकार कवि शब्दालङ्कारों के ऊपर अधिक बल देते हैं। इसके विपरीत रसवादी कवियों की दृष्टि शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों पर अधिक केन्द्रित होती है। यही कारण है कि भाषा की सरसता एवं लालित्य के कारण कालिदास की कृतियों में अनुप्रास अलङ्कार प्रायः दृष्टिगोचर होता है पर श्लेषादि अलङ्कार के दर्शन कम ही होते हैं। रघुवंश के वसन्त आदि के वर्णन में जहाँ यमक आदि का प्रयोग हुआ है वहाँ भी अपने स्वाभाविक रूप में ही। उसके कारण कालिदास का रसवादी दृष्टिकोण ओझल नहीं होने पाता। अर्थालङ्कारों में भी उन्होंने अपनाया तो सभी को है, पर उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि पर उनकी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित है। किन्तु जिस अलङ्कार के कारण उनकी कीर्ति-कौमुदी दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है वह है उपमा अलङ्कार। सहृदयों की निम्नांकित सूक्ति सभी का कण्ठहार बनी हुई है

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

उपमा कालिदासस्य

उपमा का इतिवृत्त अति चिरन्तन है। ऋग्वेद से लेकर आज तक के निर्मित काव्य-जगत् में वह अधिष्ठात्री देवी की भाँति मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित है। उसका क्षेत्र इतना विशाल है कि सादृश्य-मूलक रूपक, उत्पेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमेयोपमा, सन्देह, अपह्नुति, दीपक, निदर्शना आदि अलङ्कार मूल रूप से उसी से सम्बद्ध हैं। इसीलिए आचार्य अप्पयदीक्षित अपने चित्रमीमांसा नामक ग्रन्थ में उपमा को एक ऐसी नटी बतलाते हैं जो काव्य रूपी रङ्गमंच पर विभिन्न रूपों में अपना नृत्य दिखलाती हुई काव्यरसिकों के चित्त को हठात् आनन्दित करती है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
एजयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

आचार्यों ने उपमा अलंकार के अनेक भेद गिनाये हैं। कालिदास के काव्यों में यत्र-तत्र सभी भेदों के दर्शन होते हैं। कालिदास की उपमाओं में रमणीयता, विविधता, यथार्थता और औचित्यादि के दर्शन होते हैं। यहाँ उपमा सम्बन्धी कुछ वैशिष्ट्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. यथार्थता तथा भावाभिव्यञ्जकता—कालिदास की उपमायें प्रसङ्गानुकूल होती हैं और उनमें यथार्थता होती है। यथार्थता के कारण उनके (उपमाओं के) माध्यम से

भावों की व्यञ्जना कराकर वे यथार्थ बिम्ब खड़ा कर देते हैं। रघुवंश में वर्णित स्वयंवर में इन्दुमती जयमाल लिये जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती है उसके मुख पर नैराश्य की कालिमा उसी प्रकार छा जाती है जिस प्रकार रात्रि में राजमार्ग पर आगे बढ़ने वाली दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये भवन तिमिराच्छन्न हो जाते हैं। यहाँ इन्दुमती की उपमा दीपशिखा से और भूमिपालों की उपमा राजपथ के भवनों से देकर कालिदास ने राजाओं के अन्तः में छिपे नैराश्य को कितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। इसी औपम्यविधान के कारण कालिदास 'दीपशिखा कालिदास' कहे जाते हैं—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।। रघुवंश, ६/६७।।

२. **मनोवैज्ञानिकता**—कालिदास के औपम्य-विधान में उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय मिलता है। कुमार-सम्भव के पञ्चम सर्ग में जब कटुवादी ब्रह्मचारी से क्रुद्ध होकर पार्वती जाने के लिए उद्यत होती है तो उसी समय प्रकट होकर शङ्कर उन्हें रोक लेते हैं। उस समय उनकी दशा मार्ग में पर्वत के द्वारा रोकी गयी उस क्षुब्ध नदी की भाँति हो जाती है जो न आगे बढ़ पाती है और न रुक ही पाती है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।
कुमार० ५/८५।

३. **उपमान-ग्रहण में व्यापकता**—कालिदास ने औपम्य-विधान में उपमानों का चयन इतने व्यापक क्षेत्र से किया है कि उनकी उपमाओं का जगत् विशाल हो गया है। आकाश-पाताल, पशु-पक्षी, वन-उपवन, लोक-शास्त्र सभी क्षेत्रों से उन्होंने आवश्यकतानुसार उपमानों का चयन करके अपनी उपमा को सर्वव्यापी बनाया है। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं—

राजा दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा के बीच लोहितवर्णा नन्दिनी गौ उसी प्रकार सुशोभित हो रही है जिस प्रकार दिन और रात के बीच सन्ध्या—

"तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।।" रघुवंश द्वि०स०।

इसी प्रकार रघुवंश के द्वितीय सर्ग में सायंकाल जब नन्दिनी घर की ओर लौटती है तो उस समय उसकी शोभा सूर्य की निवृत्त होने वाली प्रभा के समान हो जाती है—

"प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।"

शास्त्रीय उपमानों के द्वारा वस्तु-सौन्दर्य का वर्णन करने में भी कालिदास नितान्त दक्ष हैं—'**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत**।' यहाँ पर नन्दिनी के पीछे चलने वाले दिलीप की श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से दी गयी उपमा आध्यात्मिक है, साथ ही अत्यन्त आह्लादकर।

४. प्राकृतिक उपादानों का साहाय्य—कालिदास ने प्रकृति के उपादानों को लेकर सौन्दर्य का मूर्तिमान् और आकर्षक स्वरूप खड़ा करने में भी सफलता प्राप्त की है। एतदर्थ अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्नाङ्कित स्थल द्रष्टव्य हैं—

"अधरः किसलयरागः ... शा० १/२१।", "अनाघ्रातं पुष्पं .... शा० २/१०", "सरसिजमनुविद्धम् .... शा० १/२०।"

ऋषियों के मध्य शकुन्तला जीर्णपत्तों के मध्य किसलय के समान है! कितनी सुन्दर उपमा है !!

"मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्। ५/१३।

५. सूक्ष्मभावाभिव्यञ्जकता—कालिदास मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को भी अपने प्रातिभ चक्षु से जान लेते हैं और अपने अनुपम औपम्यविधान द्वारा उनका उद्घाटन भी बड़े सुन्दर ढंग से करते हैं। अपनी प्रेयसी शकुन्तला के प्रति उद्भूत भावनाओं के साथ कर्तव्यवश उसको छोड़कर जाते हुए राजा दुष्यन्त के हृदय में जो एक अन्तर्द्वन्द्व खड़ा होता है , उसका औपम्य के द्वारा यथार्थ प्रकाशन कितना मनोमोहक है—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।। शा० १/३३।

६. औचित्य—कालिदास की उपमाओं में औचित्य का निर्वाह हुआ है। वे देश, काल, पात्र, समस्त अवस्थाओं के अनुरूप काव्य के प्रत्येक शब्द में अर्थ भर देने में बेजोड़ हैं। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का ज्ञान हो जाने पर उनका यह कथन इस बात का प्रमाण है—

"दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता"।

यहाँ पर आश्रम-पालिता शकुन्तला धूमाकुलितदृष्टि याज्ञिक की आहुति है और राजा दुष्यन्त यज्ञीय अग्नि। दुष्यन्त सुशिष्य के समान हैं और शकुन्तला उनको सौंपी गयी विद्या के समान। तपोवन जैसे स्थान में महर्षि कण्व जैसे वक्ता की दृष्टि में दुष्यन्त और शकुन्तला क्रमशः यज्ञीय अग्नि, सुशिष्य तथा हविष् एवं विद्या से भिन्न और क्या हो सकते हैं ? इसी प्रकार शार्ङ्गरव की निम्नांकित उक्ति में भी औचित्य का भाव कूट-कूट कर भरा है। दुष्यन्त की दृष्टि में जो शकुन्तला **'अनाघ्रात पुष्प'** थी वही शार्ङ्गरव की दृष्टि में मूर्तिमती सत्क्रिया हो जाती है—

"त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः, शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।।"
शा० ५/१५।।

७. विराट् तत्त्व—शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में पितृवियोग से विकल होकर शकुन्तला पिता कण्व से लिपट जाती है और कहती है कि 'पिता से वियुक्त होकर वह कैसे

जीवन धारण करेगी ?'' उसको समझाते हुए कण्व कहते हैं—

''तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि । शा० ४/१९ ।।

यहाँ पर जिस भरत के नाम पर यह विशाल देश भारत कहलायेगा उस पुत्र की उत्पत्ति के लिये 'प्राचीवार्कं प्रसूय' इस औपम्य-विधान में कितना विराट् तत्त्व छिपा हुआ है ? इसी प्रकार **''अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव''** च०अ०—इत्यादि स्थलों में भी कालिदास की अनुभूति की विशालता के दर्शन होते हैं ।

शाकुन्तल में उपमा सौन्दर्य के अन्य स्थल—

कालिदास के काव्यों में उपमा के एक से एक बढ़कर आकर्षक चित्र चित्रित हैं । शाकुन्तल में उपमा सम्बन्धी कतिपय चित्रों पर प्रकाश डाला गया है । उसमें कुछ अन्य चित्ताकर्षक स्थल द्रष्टव्य है—

शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क में सेनापति परिपुष्ट शरीर वाले राजा दुष्यन्त की तुलना बलवान् पहाड़ी हाथी से करता है जो अत्यन्त चारु है—

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ।। शा० २/४ ।।

तृतीय अङ्क में दुष्यन्त द्वारा वियोग विधुरा, कामपीड़ितक्षीणवदना शकुन्तला की उपमा वायु द्वारा झुलसी वासन्ती लता से की गयी है, जो अत्यन्त मनोहर है—

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ।। शा० ३/७ ।।

शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में कण्व द्वारा पतिगृह जाने वाली धर्म-पुत्री शकुन्तला की उपमा शर्मिष्ठा से तथा भावी पुत्र की उपमा पूरु से की गयी है, जो अत्यन्त स्पृहणीय है—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ।। शा० ४/७ ।।

इसी प्रकार उपमा वैशिष्ट्य के लिये अधोलिखित स्थल भी द्रष्टव्य हैं—

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ।। शा० ५/१९ ।।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम् ।। ७/२२ ।।

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ।। ५/१० ।।
अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसाङ्गिनमवैहि ।। ५/११ ।।

इत्यादि ।

कुछ विद्वानों के मत में कालिदास अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के प्रयोग में अत्यधिक पटु हैं—

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मे मतिः ।
अर्थान्तरन्यासविन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।।

अतः यहाँ शाकुन्तल में अङ्कित अर्थान्तरन्यास के कुछ मनोरम चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १-२० ।।

यहाँ इस सामान्य कथन से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। १/२२ ।।

यहाँ भी सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास हैं ।

कामी स्वतां पश्यति ।। २/२ ।।

यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन है ।

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।। ३/११ ।।

इस उत्तरार्धगत सामान्य कथन से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।। ४/१८ ।।

यहाँ गृहिणीपदम् में साधर्म्य तथा वामाः में वैधर्म्य होने से अर्थान्तरन्यास हैं ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः........
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।। ५/१२ ।।

इस श्लोक के चतुर्थचरणगत सामान्य कथन से शेष तीन चरणगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।।

उत्तरार्ध के सामान्य कथन से पूर्वधिगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ।। ७/१३ ।। इत्यादि ।

शाकुन्तल में अन्य अलङ्कार

यों तो शाकुन्तल में अनेक अलङ्कारों की योजना की गयी है पर जिन अलङ्कारों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित है—

उत्प्रेक्षा—अङ्क १ के ८, १८, २९, ३३ श्लोक। २-२, २-३; ३-१; ४-२, १२, २२। ५-१५, २३, ३१। ६-४, २१।

स्वभावोक्ति—१—३,७,९,१४,१५,२९। २—२,६,। ३—५,१०,२२,। ४—१४। ६—६,१७।

अप्रस्तुतप्रशंसा—१—१७,२२,२५। ३—२,३,६। ५—२,४, १२, १७, २२, २४, २५, २८। ६—१,२,५,२९।

विभावना—१—१८। ३—६। ५—२,१०,३१। ६—७।

समासोक्ति—३—४,१४,१७। ४—२,३,९,१३। ६—११,१३,१९।

काव्यलिङ्ग—१—४,११,२८,२९। २—५,९। ४—१९। ५—२,२,७। ६—५।

अनुप्रास का प्रयोग प्राय: सर्वत्र है। इन अलङ्कारों के अतिरिक्त यमक, श्लेष, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, तुल्योयोगिता, दीपक, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विरोधाभास, प्रतिवस्तूपमा आदि का भी प्रयोग हुआ है।

रस-योजना

कालिदास स्वभावतः रससिद्ध कवि हैं। काव्य का आत्मभूत रसतत्त्व सदा उनकी दृष्टि के सामने विराजमान रहता है। इसीलिये उनकी काव्यकला भी रसवादी है। उनका रसवादी दृष्टिकोण उनकी सभी कृतियों में पदे-पदे परिलक्षित होता है। सामान्यतः रसवादी होते हुए भी गम्भीर रसों की अपेक्षा कोमल रसों के चित्रण में उनकी दृष्टि अधिक रमी है। कोमल रसों में भी उनका झुकाव शृङ्गार रस के प्रति अधिक है। इसीलिये वे प्रधानतया शृङ्गार रस के कवि माने जाते हैं। शृङ्गार के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों को उद्घाटित करने में उनकी काव्यकला सर्वथा दक्ष है। मेघदूत के उत्तर-मेघ तथा रघुवंश के चतुर्दश सर्ग में वियोग पक्ष का सजीव चित्र चित्रित है। इन दोनों स्थलों में उनकी व्यञ्जना-शक्ति ने वियोग को अधिक गम्भीर एवं तीव्र बना दिया है। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में शिव-पार्वती का सम्भोग-वर्णन भी संयोगपक्ष को समुद्घाटित करने में सर्वथा समर्थ है। संयोग शृङ्गार के आलम्बन-उद्दीपन दोनों विभावों के चित्रण में कालिदास को जितनी सफलता मिली है उतनी शायद किसी अन्य को मिली हो। उनके तीनों नाटकों में भी शृङ्गार रस ही अङ्गी बनकर अपने भव्यरूप में चित्रित है। नीचे शाकुन्तल की रसयोजना पर संक्षिप्त विमर्श किया जा रहा है—

शाकुन्तल में रस

नाट्य-शास्त्रीय विधान के अनुसार शाकुन्तल का प्रधान रस शृङ्गार है। शाकुन्तल में शृङ्गार रस के दोनों पक्षों का पूर्ण परिपाक हुआ है। शाकुन्तल के प्रारम्भिक तीन अङ्कों में संभोग शृङ्गार का ही निदर्शन है। नाटक का प्रारम्भ तथा अन्त दोनों सम्भोग शृङ्गार से होता है।

सम्भोग शृङ्गार—प्रथम अङ्क में अपनी सखियों के साथ वृक्षों का सचन करती हुई शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति अनुराग अंकुरित हो जाता है—

'मधुरमासां दर्शनम्' प्रथम अङ्क, **''शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुः...''** शा० १/१७

तदनन्तर वह शकुन्तला के रूप-माधुर्य पर अत्यधिक आकृष्ट होकर—**इदं किलाव्याजमनोहरं**- शा० १/१८; **सरसिजमनुविद्धं....** शा० १/२० आदि के द्वारा उसकी रूप-माधुरी की मन ही मन प्रशंसा करता है और शकुन्तला के वृत्तान्तज्ञान से उसको (शकुन्तला को) क्षत्रिय के विवाह योग्य जानकर वह उसकी प्राप्ति के लिये लालायित हो जाता है और अवसर मिलने पर उससे अपने प्रेम की अभिव्यक्ति 'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे...' शा० ३/१७ करता है।

'अपरिक्षतकोमलस्य' ३/२१, **'उपरागान्ते'**—७/२२ आदि स्थल द्रष्टव्य हैं जहाँ सम्भोग शृङ्गार की अच्छी व्यञ्जना हुई है।

उधर शकुन्तला भी दुष्यन्त के आकर्षक व्यक्तित्व तथा मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हो जाती है जिससे उसके हृदय में प्रेम का पदार्पण हो जाता है—

'किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो.....संवृत्ता'- प्र० अङ्क, **'यथात्मनः प्रभविष्यामि'**- वही, **'वाचं न मिश्रयति'**- वही १/३०।

इस प्रकार नायक-नायिका दोनों के हृदय में प्रेम का राज्य प्रतिष्ठित हो जाता है। तृतीय अङ्क में शकुन्तला के प्रेमपत्र **'तव जाने हृदयं... अङ्गानि'**(३/१३) से पूर्णतः विश्वस्त होकर दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो जाता है। इस प्रकार सम्भोग शृङ्गार की चरम परिणति हो जाती है। इस बीच जो भी रस चित्रित हैं, सभी के द्वारा सम्भोग शृङ्गार की पुष्टि होती है। नाटक के अन्त में एक लम्बे अन्तराल के बाद दुष्यन्त शकुन्तला के मिलने में सम्भोग शृङ्गार पुनः प्रतिष्ठित होता है।

विप्रलम्भ शृङ्गार

विप्रलम्भ शृङ्गार के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इस सिद्धान्त के अनुसार कवि ने विप्रलम्भ के चित्रण में सतर्कता अपनायी है। नाटक के पूरे द्वितीय, तृतीय (प्रारम्भ तथा अन्त में) एवं षष्ठ अङ्क में मुख्य

रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार ही वर्णित है। विरहावस्था में दुष्यन्त की विरह-पीड़ा को व्यक्त कराने वाले निम्नाङ्कित स्थल द्रष्टव्य हैं, जिसमें वह अपनी प्रेयसी शकुन्तला के रूप तथा काम-चेष्टाओं आदि का वर्णन करता है—

'स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि' शा० २/२, 'चित्रे निवेश्य...' शा० २/९, 'अनाघ्रातं पुष्पं' शा० २/१०, 'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं...' शा० २/११, 'दर्भाङ्कुरेण....' शा० २/१२।

उसकी काम पीड़ा तो इतनी बढ़ जाती है कि उस पर चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि की वर्षा करती हैं और कामदेव के कोमल पुष्प-बाण भी वज्र की भाँति प्रहार कर रहे हैं—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।।शा० ३/३।।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में दुष्यन्त के वियोग में शकुन्तला भी अत्यन्त कृश होकर शिला-पट्ट के ऊपर पुष्प-शैय्या पर लेटी हुई दृष्टिगोचर होती है। वह अत्यन्त अस्वस्थ शरीर हो गयी—**'बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते'**। उसके शरीर में केवल लावण्यमयी छाया रह गयी है।—**'केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति'**। वियोग से व्यथित होकर उसकी दशा झुलसी हुयी वासन्ती लता की भाँति हो गयी है—

'क्षामक्षामकपोल... स्पृष्टा लता माधवी'.......– शा० ३/७॥

गान्धर्व विवाह हो जाने के बाद तृतीय अङ्क के अन्त में भी विप्रलम्भ की ही स्थिति है।

षष्ठ अङ्क में शकुन्तला की वियोग-व्यथा की कोई चर्चा नहीं है। राजा की विरहावस्था दयनीय दशा को प्राप्त हो जाती है। यह वसन्तोत्सव को रोक देता है, किसी रमणीय वस्तु में उसकी रुचि नहीं है। करवटें बदल कर रात बिताता है—'रम्यं द्वेष्टि...' शा० ६/५, उसने अलङ्करादि का परित्याग कर दिया है—'प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः...' शा० ६/६, और अपनी सभा में जो उसने शकुन्तला का अपमान किया था, उसका स्मरण कर उसका हृदय दग्ध हो रहा है—'इतः प्रत्यादेशात्' शा० ९/९ और मुद्रिका आदि को देख कर उसका विरह और तीव्र हो जाता है– 'तव सुचरितमङ्गुलीय....' शा० ६/११।

करुण विप्रलम्भ—

चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर एक मर्मस्पर्शी कारुण्य की व्यञ्जना हुई है। जिसके कारण वीतरागी कण्व समेत शकुन्तला की सखियाँ ही विरह व्यथित

होकर नहीं तड़पती अपितु पूरा तपोवन तड़प जाता है। एतदर्थ चतुर्थ अङ्क के ये स्थल द्रष्टव्य हैं—

'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति...' शा० ४/६, **'उद्गलितदर्भकवला'** शा० ४/१२, **'यस्य त्वया व्रणविरोपणम्'** शा० ४/१४, **'शममेष्यति...'** शा० ४/२१ आदि। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क में दुष्यन्त से तिरस्कृत शकुन्तला अत्यन्त खिन्न होकर जब भगवती वसुन्धरा से शरण माँगती है—-**'भगवति वसुन्धरे देहि मे विवरम्'** तो उस समय भी कारुण्य की ही व्यञ्जना होती है। नाटक में शृङ्गार के बाद दूसरा स्थान करुण (करुणविप्रलम्भ-वात्सल्यविप्रलम्भ) का ही हैं।

हास्यरस—

द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ अङ्क में विदूषक की चेष्टाओं और उक्तियों द्वारा हास्यरस की व्यञ्जना होती है। द्वितीय अङ्क का आरम्भ ही हास्य से होता है **'विदूषकः-भो कष्टम्'**। हास्य रस के लिये विदूषक की ये उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

'किं मोदकं खादिकायाम्' द्वि० अङ्क, **'यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैः 'न खलु दृष्टमात्रस्य'** द्वि० **'कृतं त्वयोपवनं तपोवनं नाम'** द्वि० **'त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ...'** द्वि० अङ्क।

पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में भी उसकी यह उक्ति **'गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः'** पञ्चम अङ्क में दर्शकों के हृदय में हास्यरस का सञ्चार करती है।

षष्ठ अङ्क में विदूषक का डण्डा लेकर कामबाण को तोड़ने के लिये दौड़ना **'दण्डकाष्ठेन कन्दर्पव्याधिम्'** भूख द्वारा उसको (विदूषक को) खा जाने की बात **'बुभुक्षया...'** षष्ठ अङ्क।

दाढ़ी वालों को चित्र में भर देने की बात भी हास्य की अवतारणा में सहायक होती है।

शाकुन्तल में उक्त रसों के अतिरिक्त अन्य रसों की व्यञ्जना स्वल्प मात्रा में ही हुई है। केवल वीर रस का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। वीर रस के लिए ये सन्दर्भ दर्शनीय हैं—द्वि० अङ्क में **'नैतद् चित्रम्...'**, **'का कथा बाणसन्धाने...'** तृ० अं०। इसी प्रकार षष्ठ अङ्क में कञ्चुकी द्वारा राजा की प्रशस्ति तथा मातलि द्वारा दैत्यों और राक्षसों के वध के बाद राजा की वीरता के उल्लेख में भी वीर रस द्योतित होता है।

शाकुन्तल के भयभीत मृग के भागने **'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्...'** प्र० अं, भयभीत हाथी तथा राक्षसों के आश्रम में प्रवेश करने के वर्णन में **'तीव्राघात...'**, **'सायन्तने सवनकर्मणि'** भयानक रस, दुर्वासा के शाप तथा पञ्चम अङ्क में शार्ङ्गरव आदि के कथन में रौद्ररस तथा सप्तम अङ्क में मारीच के पावन आश्रम के वर्णन में शान्त रस तथा सप्तम अङ्क

में सर्वदमन के वर्णन में '**आलक्ष्यदन्दमुकुलान्...**', '**किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव... वात्सलयति**' आदि स्थलों में वात्सल्य रस का सञ्चार हुआ है।

सौन्दर्य एवं प्रेम-चित्रण

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य का प्रेमी होता है। उसकी सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ही नैक ललित कलाओं का जन्म हुआ। कवि अपनी कविता-कामिनी में सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिये अलङ्कार आदि उपकरणों का सहारा लेता है। यही कारण है कि संसार के सभी उत्कृष्ट कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में सौन्दर्य का चित्रण करके अपनी सहज सौन्दर्याभिमुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। जहाँ तक कालिदास का प्रश्न है वे स्वभावतः सौन्दर्य तथा प्रेम के पारखी ही नहीं प्रत्युत सफल चित्रकार हैं। सम्प्रति कालिदास की सौन्दर्य-भावना पर प्रकाश डालना समीचीन है—

सौन्दर्य-चित्रण–

१. कालिदास की दृष्टि में सहज सौन्दर्य बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं करता। उनके अनुसार सुन्दर वस्तुयें सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होती हैं—

'**अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्**''।

कालिदास की कल्पना के सहज सौन्दर्य की ही महिमा है कि वह सौन्दर्यापहारक उपकरणों को भी अपना क्रीतदास बना लेता है—

'**सरसिजमनुविद्धं...**' १/२०।

२. कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य का स्वरूप दोष-विमुक्त है। सुन्दर प्राणी से वे कदाचार की अपेक्षा नहीं करते। उनका सौन्दर्य शील और सदाचार का साधन है। इस तथ्य की सिद्धि कुमारसम्भव (५/३६) के ''**यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः**'- इस वर्णन तथा शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में सर्वाङ्गसुन्दर दुष्यन्त के विषय में '**न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति**' इस उक्ति से हो जाता है।

३. कालिदास मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति-सौन्दर्य का प्रतिरूप मानते हैं। इसीलिये वे अपनी रचनाओं में मानवीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि हेतु प्राकृतिक सौन्दर्य का साहाय्य लेते हैं—

'**अधरः किमलयरागः...**' शा० १/१९ '**अनाघ्रातं पुष्पं**' शा० २/१०।

४. कालिदास स्त्री और पुरुष दोनों के सौन्दर्य का वर्णन करने में कुशल हैं। परन्तु नारी-सौन्दर्य के वर्णन में उनकी दृष्टि विशेष रूप से रमी है। उनकी रचनाओं में नारी-सौन्दर्य के एक से एक बढ़कर भव्य चित्र हृदय को आनन्दित करते हैं। मेघदूत की यक्षिणी ''तन्वी श्यामा ....'' रघुवंश की इन्दुमती, कुमारसम्भव की पार्वती, विक्रमोर्वशीय की उर्वशी,

मालविकाग्निमित्र की मालविका जहाँ एक ओर अपने सौन्दर्य-वैभव से सहृदयों को मनोमुग्ध बनाती हैं वहीं शाकुन्तल की शकुन्तला अपनी सौन्दर्य-दीप्ति से सबको सन्दीप्त कर देती है।

५. कालिदास के अनुसार नारी-सौन्दर्य की चरितार्थता अपने प्रिय का प्रेम-भाजन बनने में ही है—

'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'—कुमारसम्भव, ५/१।

उनकी दृष्टि में नारी-सौन्दर्य की वृद्धि उसके शील, लज्जा आदि गुणों से होती है। केवल शारीरिक सौन्दर्य नारी का वास्तविक सौन्दर्य नहीं बन सकता—"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती।"

६. कालिदास की कल्पना सौन्दर्य में कुछ ऐसे गुण हैं जो रूप को उसी प्रकार संवार देते हैं जैसे—प्रातःकालीन सूर्य की किरणें विकसित होते हुए कमल को तथा तूलिका द्वारा किया गया अंकन रेखाचित्र को—कुमार० १/३२। कवि-कल्पित सौन्दर्य में भूषणों का भूषण, उपमानों का भी उपमान और प्रसाधनों का भी प्रसाधन बन जाने की क्षमता है—**'आभारणस्याभरणं.....'**विक्रमो० २/३।

प्रेम-चित्रण–कालिदास की रचनाओं में सौन्दर्य की भाँति ही प्रेम का चित्रण भी अतीव भव्य, चित्ताकर्षक एवं सजीव हुआ है। प्रणयी तथा प्रणयिनी के मध्य होने वाले प्रेम का जैसा निदर्शन कालिदास ने किया है वैसा विश्व के इतिहास में दुर्लभ है।

१–कालिदास की दृष्टि में पुरुष के प्रति नारी-प्रेम में एक प्रकार की संकोचशीलता एवं परवशता विद्यमान रहती है। वे अपने प्रेम को वचनों द्वारा नहीं अपितु हावभावों द्वारा प्रकाशित करती हैं—

"स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु....." मेघदूत तथा **"दर्भाङ्कुरेण चरणः.........."** शा० २/२२।

२–कालिदास की दृष्टि में विषय-वासना से युक्त प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। क्षणभंगुर रूपाश्रित प्रेम पर उनकी आस्था नहीं है। तभी तो अपनी शारीरिक सम्पत्ति के कारण शङ्कर के प्रेम को न पाने पर पार्वती अपने दैहिक सौन्दर्य की निन्दा करती है— **"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती"**– कुमार०।

३–कालिदास तपस्या की अग्निपरीक्षा से निखरे हुए प्रेम को ही वास्तविक प्रेम मानते हैं। जो पार्वती अपने शारीरिक सौन्दर्य से शङ्कर को न रिझा सकी वही पार्वती तपस्या से पावन बनकर उनकी आराध्य देवी बन जाती हैं और शङ्कर उनके क्रीतदास—**'अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मिदास'** कुमार०– ५/८६।

इसी प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का बाह्य सौन्दर्य पर आधारित पारस्परिक प्रेम तब तक सफल नहीं होता जब तक वे विरह की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होते। अन्त में शङ्कर की भाँति दुष्यन्त को भी शकुन्तला से क्षमा माँगनी ही पड़ती है—

"**शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य**''.....'**सुतनु हृदयात्....** ।।७/२४।।

४–कालिदास का प्रेम जन्मजन्मान्तरीय है। वियोग-व्यथा से पीड़ित दुष्यन्त भी इस बात को स्वीकार करता है—

"**भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि**'' । ६/२ ।

उनके अनुसार प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में नहीं होती।

५–कालिदास का प्रेम धर्म अथवा कर्म का विरोधी नहीं है। वस्तुतः उनकी प्रेम सम्बन्धी मान्यता गीता के वचनानुसार ही है–'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि।' प्रेम के मार्ग पर आरूढ प्रणयी अथवा प्रणयिनी ज्यों ही अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है त्यों ही उसे दण्डित कर इस बात के लिए अवसर दिया जाता है कि वह तपस्यादि के द्वारा कर्तव्यपराङ्मुखता रूपी पाप का प्रायश्चित्त करे। मेघदूत के प्रणयी यक्ष को उद्यान-पालक के कर्तव्य की अवहेलना के कारण तथा शाकुन्तल की नायिका तथा दुष्यन्त की प्रणयिनी शकुन्तला को अतिथि दुर्वासा का उचित सत्कार न करने के कारण दण्डित होना पड़ता है और जब दोनों ही अपने को विरहाग्नि में तपाते हैं तब दोनों को ही अपने-अपने प्रेमियों के दिव्य प्रेम की प्राप्ति होती है।

६–कालिदास के अनुसार अमर्यादित प्रेम प्रेम नहीं है। उनके प्रेम की परिणति दाम्पत्य-प्रेम में होती है, क्योंकि वे प्रणयी-युगल के प्रगाढ़ प्रणय के प्रतीक रूप में सन्तान को आवश्यक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए कुमारसम्भव के शिव-पार्वती तथा शाकुन्तल के प्रणयी युगल दुष्यन्त-शकुन्तला को लिया जा सकता है। शाकुन्तल के तृतीय अङ्क में जो शकुन्तला दुष्यन्त के लिये अनाघ्रात पुष्प रही वही सप्तम अङ्क में इस देश को 'भारत' नाम देने वाले भरत की जननी बनकर ही दुष्यन्त के दिव्य-प्रेम का भाजन बनती है।

प्रकृति-चित्रण

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है–"**वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन।**''

अर्थात् संसार की जड़ चेतन समस्त वस्तुएँ काव्यगत किसी रस या भावका अङ्ग बन सकती हैं। महाकवि कालिदास ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा है। परिणामतः काव्यों में स्थावर चित्रण हुआ है। विधाता की इस सुविशाल सृष्टि में चतुर्दिक् विराजमान प्रकृति का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक पर्यवेक्षण कर उनके द्वारा किया गया प्रकृति-वर्णन संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके प्रकृति-वर्णन में जो सजीवता, भव्यता, रमणीयता एवं

गतिशीलता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि वन, उपवन, पर्वत, सरिता, स्रोत, पुष्प, वृक्ष, लता, चन्द्र, सूर्य, तारा, आकाश, पशु-पक्षी, ऋतु, प्रकृति के इन सभी अङ्गों में रमी है। ऋतुसंहार नामक सम्पूर्ण खण्ड काव्य में केवल प्रकृति का ही अखण्ड साम्राज्य चित्रित है, जहाँ छः ऋतुयें अपने भव्य रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। 'मेघदूत' का पूर्वमेघ तो मानो प्रकृति रमणी की विलासमय चेष्टाओं की क्रीड़ास्थली ही है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग का हिमालय-वर्णन न केवल संस्कृत साहित्य का प्रत्युत विश्वसाहित्य का महनीय अङ्ग है। उसके प्रारम्भिक पाँच सर्गों में प्रकृति की दैवी विभूतियो के साक्षात् दर्शन होते हैं। रघुवंश में वर्णित प्रभात, समुद्र, तपोवन आदि जहाँ एक ओर हमें आनन्द-विभोर बनाते हैं, वहीं नवम सर्ग का वसन्त-वर्णन जीवन में एक नया स्पन्दन तथा प्रेम जगा देता है। तेरहवें सर्ग में समुद्र तथा गङ्गा-यमुना के सङ्गम का सजीव तथा विम्बग्राही वर्णन किसे आह्लादित और आप्लावित नहीं कर देता ? उक्त काव्यों के अतिरिक्त उनके नाटकों में भी प्रकृति का सजीव चित्रण उपलब्ध होता है। आगे शाकुन्तल में अङ्कित प्रकृति-चित्रण पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायेगा।

शाकुन्तल में प्रकृति-चित्रण

१. **विशालता एवं व्यापकता**—कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतिक छटाओं से ओत-प्रोत एक ऐसी रङ्गशाला है जहाँ प्रकृति-नटी अपनी हृदयावर्जक एवं मनोरम अभिनय-कला द्वारा सहृदयों को मन्त्रमुग्ध कर देती है। शाकुन्तल के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में अपने अभीष्ट देव भगवान् भूतनाथ की दिव्य अष्टमूर्तियों का साक्षात्कार प्रकृति के ही भीतर करके कवि जन-मङ्गल की कामना करता है—

''या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्त विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।१।१ ।।

प्रकृति की विशालता एवं दिव्यता के प्रति कवि के हृदय में किस प्रकार के श्रद्धामूलक भाव हैं, इसका पता इस पद्य से सहज ही चल जाता है।

२. **प्रकृति वर्णन की विम्बग्रहणशीलता**—कालिदास प्रकृतिगत वर्ण्य-विषय का सजीव चित्र अङ्कित करने में अति कुशल हैं। निम्नाङ्कित पद्य में भयाकुल मृग का सच्चा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है जिससे कवि की प्रकृति के यथार्थ बिम्ब-ग्रहण की क्षमता का द्योतन होता है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।१/७ ।।

अधोलिखित पद्य में ग्रीष्म-ऋतु का अति स्वाभाविक चित्रण हुआ है—

सुभगसलिलावगाहाः　पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।। शा० १/३ ।।

नीचे कण्व के आश्रम के सजीव एवं चित्ताकर्षक वर्णन के पठन-श्रवण मात्र से ही आश्रम के सच्चे स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं—

"नीवाराः　शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः　शब्दं　सहन्ते　मृगा—
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ।। शा० १/१४ ।।

३. मानवीय सौन्दर्य-वृद्धि में प्रकृति का साहाय्य—कालिदास वस्तुतः प्रकृति के कोमल स्वरूप के चित्रकार हैं। उनकी आस्था है कि प्रकृति में ही सच्चे सौन्दर्य के दर्शन हो सकते हैं क्योंकि प्रकृति का सारा सौन्दर्य स्वाभाविकता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। इसीलिये वे मानव-सौन्दर्य की तीव्रता एवं यथार्थता की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति का आश्रय लेते हैं। निम्नाङ्कित पद्य में प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से अभिव्यक्ति तथा रमणीयता, मुग्धता एवं उपभोगयोग्यता आदि से मण्डित शकुन्तला का सौन्दर्य किसे नहीं लुभा देता ?

अनाघ्रातं　पुष्पं　किसलयमलूनं　कररुहै—
रनाविद्धं　रत्नं　मधु　नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं　पुण्यानां　फलमिव　च　तद्रूपमनघं
न　जाने　भोक्तारं　कमिह　समुपस्थास्यति　विधिः ।।२/१० ।।

निम्नाङ्कित पद्य में किसलयराग, कोमलविटप (शाखा) एवं कुसुम रूप प्राकृतिक उपमानों से शकुन्तला का यौवन-मण्डित सौन्दर्य निखर सा जाता है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव　लोभनीयं　यौवनमङ्गेषु　सन्नद्धम् ।।१/२१ ।।

निम्नाङ्कित श्लोक में शकुन्तला के सहज रूपलावण्य का मूर्तिमान् रूप उपस्थित करने के लिए कवि ने शैवाल (सिवार) से आवृत्त कमल तथा कलङ्क से मण्डित चन्द्रमा से सहायता ली है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १/२० ।।

छठें अङ्क में शकुन्तला के चित्र-निर्माण के अवसर पर राजा द्वारा "कार्या सैकतलीनहंसमिथुना.......' ६/१७ तथा 'कृतं न कर्णार्पितबन्धनम् सखे.......' ६/१८ कही गयी उक्तियाँ भी उक्त तथ्य को प्रमाणित करती हैं। मेघदूत की "तन्वी श्यामा ...." तथा "श्यामास्वङ्ग" आदि वर्णनों में भी उक्त तथ्य के दर्शन होते हैं।

४. अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति का सामञ्जस्य—शाकुन्तल में मानव की अन्त:प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के बीच एक अपूर्व सामञ्जस्य का चित्रण किया गया है। निम्नाङ्कित श्लोक में चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वल्लभवियोग से व्यथित कुमुदिनी की व्यथा के साथ वियोग-विक्लवा शकुन्तला की अन्तर्व्यथा का सामञ्जस्य कितना मर्मस्पर्शी है?—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।। ४/३ ।।

५. प्रकृति का मानवीकरण—कालिदास के प्रकृति-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति में चेतनता एवं मानवीय वृत्तियों का आरोप। उन्होंने अपनी लौकिक कल्पना और प्रतिभा द्वारा प्रकृति की जड़ता समाप्त कर उसमें भावप्रवणता, गतिशीलता तथा चेतना का संचार कर दिया है। प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम चित्रित करते-करते उनकी भावना मनुष्य के प्रति प्रकृति का प्रेम चित्रित करने लगती है। दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति भले ही जड़ तथा आत्मविहीन पदार्थ प्रतीत हो परन्तु महाकवि कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति के भीतर सहानुभूति एवं दुःख-सुख की स्थिति में उद्भूत सम्वेदना का सम्यग् अनुभव करती है। इसीलिये उनकी प्रकृति भावनाशील है और मानव जगत् के प्रति उनके हृदय में पूर्ण सहानुभूति है।

शाकुन्तल में सारी प्रकृति एवं शकुन्तला पूर्णतः घुल मिल गयी है तथा प्रकृति एवं शकुन्तला का पारस्परिक सौहार्द्र इतनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है कि महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के अवसर पर तपोवन के वृक्षों से विदाई की अनुमति लेना आवश्यक समझ कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। शा० ४/९ ।।

यहाँ प्रकृति ने अपने स्वरूप का परित्याग नहीं किया है। वह अपने स्वरूप की रक्षा करती हुई मानव के समान सचेतन एवं सजीव हो गयी है। उसकी मूकता, चेतनाहीनता और निष्प्राणता समाप्त हो गयी है। वह मानव के समान है और सुख-दुःख तथा सम्वेदना का अनुभव करती है। शकुन्तला के प्रति सहानुभूतिवश जहाँ एक ओर वन के वृक्ष विदाई के अवसर पर विविध माङ्गलिक वस्त्रों और अलङ्कारों को प्रदान करते हैं–'क्षौमं.....'४/५। वहीं शकुन्तला के वियोग से व्यथित सारी प्रकृति सारा कामधाम छोड़कर वियोग-व्यथा से तड़प जाती है—

''उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।'' ४/१२ ।।

महर्षि कण्व का आँसू कण्ठ तक ही आकर रुक जाता है। वनलताओं के आँसू भीतर रुक नहीं पाते। इसी प्रकार वनज्योत्स्ना का अपनी शाखा रूपी बाहुओं को फैलाकर अपनी बहन शकुन्तला को भेंट करना–**वनज्योत्स्ने....शाखाबाहुभिः च**। पुत्रवत् पालित मृगशावक का धरना देकर शकुन्तला को रोकना–**''को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते**।' च० अ०। कण्व–**''यस्य त्वया.....४/१४।''** शकुन्तला का पशुपक्षियों का पुत्रवत् पालन करना सभी कुछ प्रकृति तथा मानव के अतिशय सान्निध्य को सूचित करता है। इस प्रकार सारी प्रकृति अन्य पात्रों की भाँति एक सजीव पात्र बन गयी है। नाटक का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु के वर्णन से होता है, बीच की सारी क्रियायें प्रकृति के वितान रूप आश्रम में होती हैं और उसका अवसान भी मारीच के पावन प्रकृति के प्राङ्गण में होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रमुख पात्र

दुष्यन्त

१. धीरोदात्त नायक—पुरुवंशी दुष्यन्त शाकुन्तल का नायक है। वह एक राजर्षि भूपति है और नायक के लिये अपेक्षित प्रायः सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। नायक के चार भेद होते हैं धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त। उनमें धीरोदात्त नायक महाबलशाली (शोक-क्रोधादि से अभिभूत न होने वाला), अति गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर-प्रकृति, विनय से अहङ्कार को दबाने वाला तथा दृढ़व्रत (प्रणपालक) होता है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।।–दशरूपक, द्वितीय प्रकाश।

राजा दुष्यन्त शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त कोटि का नायक हैं क्योंकि वह धीरोदात्त नायक के लिये अपेक्षित सभी गुणों से समन्वित है। शृङ्गारी दृष्टि से यदि देखा जाय तो दुष्यन्त अनुकूल (दक्षिण) नायक है। क्योंकि शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम के होते हुए भी वह अपनी अन्य (हंसपदिका तथा वसुमती) रानियों को रुष्ट नहीं करना चाहता। कलाकोविद होने के नाते कुछ लोगों ने दुष्यन्त को धीरललित की कोटि में रखा है। पर इस प्रकार का मत ठीक नहीं है। दुष्यन्त में धीरललित नायक के लक्षण घटित नहीं होते।

२. आकर्षक व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य से युक्त–अतिशय सौन्दर्य से मण्डित नवयुवक दुष्यन्त के व्यक्तित्व में एक सहज आकर्षण एवं प्रभाव है। उसके दर्शन मात्र से ही "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" की उक्ति को स्मरण करती हुई दर्शक-मण्डली उसके उदात्त गुणों का अवबोध कर लेती है। नगरवातावरण से सर्वथा दूर निर्विकार तपोवन में पालित-पोषित तापस कन्यायें भी उसके दर्शन मात्र से हठात् प्रभावित एवं आकृष्ट हो जाती हैं। उसको देखकर प्रियंवदा की उत्सुकता सहसा मुखरित हो जाती है—**"अनसूये, का न खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते।"** कण्व-दुहिता शकुन्तला तो दुष्यन्त के प्रथम दर्शन से ही उसके प्रेमपाश में बँध जाती है और बाद में तिरस्कार की अग्नि परीक्षा में विचलित नहीं होती। षष्ठ अङ्क में मेनका की सखी सानुमती जब दुष्यन्त को देखती है तो तिरस्कार से अपमानित होने पर भी उसके (दुष्यन्त के) वियोग में सन्तप्यमाना शकुन्तला के अलौकिक एवं दिव्यप्रेम के औचित्य को स्वीकार करती है—**"स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽपि अस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति"**। सानुमती की उक्त प्रशस्ति दुष्यन्त के गरिमामय व्यक्तित्व तथा आकर्षक सौन्दर्य की भव्यता का बोध कराती है।

दुष्यन्त के महनीय व्यक्तित्व एवं अलौकिक सौन्दर्य से आबाल वृद्ध प्रभावित हो जाते हैं, चाहे वह नर हों या नारी। तृतीय अङ्क में कण्व का शिष्य राजा दुष्यन्त के प्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है क्योंकि उसके आश्रम में प्रविष्ट होते ही उसके आश्रम के सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं—**'अहो, महानुभाव: पार्थिवो दुष्यन्त: यत्प्रविष्टमात्र एवाश्रमे तत्रभवति निरुपद्रवाणि न: कर्माणि संप्रवृत्तानि'**। सप्तम अङ्क में तप:पूत काश्यप (मारीच) की निर्विकारहृदया वृद्धा धर्मपत्नी दाक्षायणी भी दुष्यन्त की भव्याकृति एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाती—**"सम्भावनीयाऽनुभावाऽस्याकृति:"**। वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुकी तो विरहवेदना से पीड़ित होने की दशा में भी अपने स्वामी दुष्यन्त की रमणीयता एवं नयनाभिरामता को देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाता है— **"अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयात्माकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देव:"**—षष्ठ अंक।

३. महावीर एवं योद्धा—क्षत्रिय राजा के अनुरूप दुष्यन्त पराक्रमी एवं योद्धा है। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में जब वह रथारूढ़ होकर धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान

किये हुए मृग का अनुसरण करता है तो उसके सारथि को ऐसा प्रतीत होता है मानों पिनाक धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान किये हुए भगवान् शङ्कर ही मृग का पीछा कर रहे हैं— **"मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्"** ॥१/६॥ अनवरत धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान करने तथा अथक श्रम के कारण दुष्यन्त का शरीर अत्यन्त कठोर एवं पुष्ट हो गया है; तभी तो सेनापति को वह पर्वत पर विचरण करने वाले अति बलशाली गजराज की भाँति प्रतीत होते है—**'गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति'** ॥ २/४॥

दुष्यन्त की वीरता एंव अमित शौर्य से राक्षस जगत् भी इतना भयभीत है कि उसे (दुष्यन्त को) राक्षसों के वध के लिये बाण-सन्धान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि प्रत्यञ्चा के टङ्कार मात्र से राक्षस सम्बन्धी विघ्न-बाधा दूर हो जाती है—

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैवं दूरतः ।
हुङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ।।३/१।।

उसे अपनी शक्ति एवं अदम्य शौर्य पर इतना विश्वास है कि वह विदूषक के साथ सैनिकों को राजधानी भेज देता है और अकेले ही आश्रम की रक्षा का भार वहन करता है। मानव-लोक ही नहीं देव-लोक को भी दुष्यन्त की वीरता पर पूर्ण विश्वास है। दैत्यों के साथ युद्ध (वैर) होने पर देवता या तो इन्द्र के वज्र पर भरोसा करते हैं या दुष्यन्त के अधिज्य धनुष पर—

आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ।।२/१५।।

दैत्यों से युद्ध करने के लिये देवराज इन्द्र उसे बुलाते हैं तथा उसके अद्भुत पराक्रम से इतना प्रभावित होते हैं कि उसे अर्धासन देकर उसके गले में मन्दार-माला पहनाते हैं—**"मन्दरमाला हरिणा पिनद्धा"** (सप्तम अङ्क)। दुष्यन्त के शौर्य एवं अतुलित पराक्रम से प्रभावित होकर मरीच को भी दुष्यन्त के लिये निम्नाङ्कित प्रशस्ति-पत्र देना ही पड़ता है—

दाक्षायणि, पुत्रस्य ते रणशिरस्यग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ।।७/२६।।

मातलि द्वारा आक्रान्त माढव्य की पुकार सुनकर वह तुरन्त धनुष पर बाण चढ़ा कर दौड़ता है और तिरस्करिणी (अदृश्य होने की विद्या) द्वारा छिपे हुए मातलि को भी अपने बाण का निशाना बनाना चाहता है—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप: ।। ६/२८ ।।

दुष्यन्त का उक्त कथन धनुर्विद्या में उसके नैपुण्यातिशय का द्योतक है ।

४. आदर्श राजा—दुष्यन्त एक ऐसा राजा है जिसमें न्यायप्रियता, प्रजावत्सलता एवं कर्तव्यपरायणता कूट-कूट कर भरी है । उसके राज्य में कोई उद्दण्डता एवं कुकर्म करने का साहस नहीं करता । प्रजा के प्रति उसका वात्सल्यपूर्ण भाव है और उसका पालन वह अपनी सन्तान की भाँति करता है—"**प्रजा: प्रजा:स्वा इव तन्त्रयित्वा...**"५/५ ॥

वही पीड़ितों की रक्षा में सदा तत्पर रहता है । उसके शस्त्र का उपयोग निरपराधों को पीड़ित करने के लिये (शक्ति: परेषां परपीडनाय) नहीं होता अपितु नि:सहायों की रक्षा में होता है । आश्रम में जब एक तपस्वी आश्रम के मृग को मारने का, "**आर्तत्राणाय व: शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि**" यह कह कर निषेध करता है तब वह तुरन्त धनुष पर से बाण उतार लेता है । उसके राज्य में अन्यायियों एवं कुपथगामियों के लिये कोई स्थान नहीं है । वह सदा उन्हें नियन्त्रित करता रहता है—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्ड: ।
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।।५/८ ।।

वह जनता जनार्दन की सेवा के लिये कभी भी अपने सुख की परवाह नहीं करता—"**स्वसुखनिरभिलाष: खिद्यसे लोकहेतो:**" ॥ ५/७ ॥

वह राजा के पद को भोग का नहीं अपितु योग का साधन मानता है । वह सिंहासनारूढ़ होते हुए भी एक निर्लोभ मुनि की भूमिका निभाता है । वस्तुत: वह एक साथ मुनि और राजा दोनों हैं—

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनाश्चारणद्वन्द्वगीत:
पुण्य: शब्दो मुनिरिति मुहु: केवलं राजपूर्व: ।।२/१४ ।।

वह अपनी प्रजा का शोषण नहीं अपितु पोषण करता है और उनके पोषण हेतु ही उनसे कर ग्रहण करता है । तपस्वियों से कर-ग्रहण की बात चलने पर वह कहता है कि अन्य प्रजा द्वारा दिया गया कर तो विनश्वर है पर ये तपस्वी तो अपनी तपस्या के षष्ठांग भाग को जो कर रूप में देते हैं वह सर्वथा अविनश्वर है—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम् ।
तप:षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि न: ।।२/१३ ।।

दुष्यन्त न्यायप्रिय शासक है और प्रतिदिन न्यायसम्बन्धी कार्यों में संलग्न रहता है । अस्वस्थ या अन्यत्र कार्य में व्यस्त होने पर अपने अमात्य पर न्याय करने का भार सौप

देता है। फिर भी न्याय के प्रति स्वयं दत्तचित्त रहता है। शासक होते हुए भी उसमें लोभ नाममात्र का नहीं है। सन्तानहीन धनमित्र के मरने पर उनकी सम्पत्ति को वह राजकोष में अधिगृहीत कर सकता था पर उसे (सम्पत्ति को) धनमित्र के गर्भस्थ शिशु को देने का आदेश देता है—"**ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति**"। प्रजाजन के प्रति उसका सहज एवं वात्सल्य-पूर्ण प्रेम उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जब वह अपने को सन्तानहीन प्रजाजन को आत्मीयजन घोषित करवाता है—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।।६/२३।।

इस प्रकार दुष्यन्त एक प्रजापालक, न्यायप्रिय, कुशल शासक, कर्त्तव्यपरायण आदर्श राजा के रूप में हमारे सामने आता है।

५. वात्सल्य प्रेमी—समाजसेवी होते हुए भी दुष्यन्त के हृदय में सन्तान के प्रति अगाध स्नेह एवं वात्सल्य-भाव है। वियोगावस्था में आपन्नसत्त्वा शकुन्तला की स्मृति उसे बेचैन कर देती है—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा ।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ।।६/४ ।।

षष्ठ अङ्क में व्यापारी धनमित्र की मृत्यु का समाचार सुनकर सन्तानहीनता की वेदना उसे शोकाकुल बना देती है। सन्तानहीन होने के कारण उसके हृदय में सन्तान सम्बन्धी लालसा सदैव उमड़ती रहती है। सप्तम अङ्क में मारीच के आश्रम में सर्वदमन को देखकर उसकी हृदयगत लालसा उद्दीप्त हो जाती है। परिणामतः उसका कोमल हृदय वात्सल्य प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है—"**नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।**" यह जानकर कि सर्वदमन उसी के आत्मा का प्रतिरूप है उसके आनन्द का पारावार नहीं रह जाता —"**भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा**"। महर्षि कश्यप के आश्रम में सुकुमार शिशु के देखने के मात्र से उनकी औरस पुत्र की लालसा स्नेहसिक्त हो जाती है—"किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः" ? (सप्तम अङ्क)।

६. विनयशील तथा मधुरभाषी—एक पराक्रमी राजा होते हुए भी वह अति विनम्र है। मृगया-व्यसनी होने पर भी आश्रम के मृगों पर प्रहार न करने के तपस्वी के निवेदन को दृष्टिगत कर धनुष पर से बाण उतार लेता है। वीतरागी तपस्वियों के प्रति उसके हृदय में समादर तथा विनयशीलता दोनों है। आश्रम में विनीत वेष धारण करके प्रवेश करने में ही उसे औचित्य दिखलायी देता है—"**विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम**"– प्रथम अङ्क। ऋषियों का साक्षात्कार होने पर उन्हें प्रणाम करता है और उनका कुशल क्षेम पूछता है। पञ्चम अङ्क में शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा शकुन्तला के द्वारा कठोर वचनों का प्रयोग करने

पर भी उसका अधीर एवं विचलित न होना उसकी कायरता का नहीं अपितु विनम्रता का परिचायक है। सप्तम अङ्क में वह भगवान् कश्यप के दर्शन करके ही आने की इच्छा प्रकट करता है—"**प्रदक्षिणीकृत्य भवन्तं गन्तुमिच्छामि**"।

दुष्यन्त जन्मतः मधुरभाषी है। उसकी सुधासिक्त वाणी उसे सभी प्राणियों का हृदय-भाजन बना देती है। प्रिय बोलने वाली प्रियंवदा उसके मधुरालाप से अत्यन्त आह्लादित हो जाती है। आश्रम कन्याओं से विदा लेते हुए उसका यह कथन–"**दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि**" उसकी वाणी की मधुरिमा का प्रख्यापन करता है।

७. कलाकोविद—ललित कलाओं के प्रति दुष्यन्त का सहज अनुराग ही नहीं अपितु वह उनका (ललित कलाओं का) मर्मज्ञ एवं प्रयोक्ता दोनों है। उसकी सङ्गीत-कला की मर्मज्ञता का बोध तब होता है जब वह (राजा) महारानी हंसपदिका के गीत को सुनकर इन शब्दों में उसकी प्रशंसा करता है—'**अहो रागपरिवाहिणी गीतिः**'– पञ्चम अङ्क। षष्ठ अङ्क में वह शकुन्तला का इतना स्वाभाविक चित्र बनाता है, जिसे देखकर वह स्वयं ही यह भूल जाता है कि यह चित्र है। शकुन्तला के चित्र में उसके प्रिय स्थानों को अङ्कित करने की इच्छा प्रकट करता है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनकण्डूयमानां मृगीम्॥६/१७॥

शकुन्तला के वनवास, सौकुमार्य तथा विनय के अनुरूप प्रसाधनों (सजावटों) की चित्र में कमी उसे खटकती हैं—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥६/१८॥

८. मृगयाव्यसनी—वह स्वभाव से मृगया-प्रेमी है। मृगया-प्रेम ही उसे कण्व के आश्रम तक पहुँचाता है, वहाँ वह शकुन्तला का प्रेमी बन जाता है। बेचारा विदूषक तो उसके मृगया-व्यसन से अत्यन्त खिन्न हो गया है—"**एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि**"— द्वितीय अङ्क।

शकुन्तला

शकुन्तला अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से वह मुग्धा नायिका की श्रेणी में आती है। कालिदास की सभी नायिकाओं में वह सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। उसके पिता का नाम विश्वामित्र तथा माता का नाम मेनका है। लोक-लज्जा के वश उसकी माता ने उसे जन्म लेते ही मालिनी नदी के तट पर कण्वाश्रम के पास छोड़ दिया। इस प्रकार उसे अपनी शैशवास्था से ही वात्सल्य-प्रेम से वञ्चित होना पड़ा। हाँ, एक बात अवश्य है, वह यह कि अनिन्द्य सुन्दरी मेनका की पुत्री होने के नाते उसे विरासत में अलौकिक सौन्दर्य-सम्पत्ति अवश्य मिली। दयालु महर्षि कण्व ने आश्रम में उसका लालन-पालन किया। अतः वही उसके धर्म-पिता बने। मालिनी-तट पर पक्षियों से आवृत होने के कारण ही उन्होंने उसका शकुन्तला (शकुन्तैः परिवारिता) यह सार्थक नाम रखा। वह अवस्था में अपनी दो अन्य सखियों अनसूया एवं प्रियंवदा से बड़ी है क्योंकि पिता कण्व सर्वप्रथम उसका विवाह करने हेतु कृतसङ्कल्प हैं। वह सम्पूर्ण नाटक में पाँच अङ्कों (१,३,४,५,७) में हमारे सामने आती है। जिन दो अङ्कों में (द्वितीय तथा षष्ठ) में वह दृष्टिगोचर नहीं होती उनमें भी सभी घटनाक्रम की केन्द्र बिन्दु वही है। शकुन्तला की चरित्रगत विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१. **अनिन्द्य सुन्दरी**—तपोवन की वनदेवी की भाँति तापस-कन्या शकुन्तला नैसर्गिक सुषमा की प्रतिमूर्ति है। राजा दुष्यन्त प्रथम दर्शन में ही उसके नैसर्गिक सौन्दर्य पर मन्त्रमुग्ध होता है—'**इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः।**' १/१८।

उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में लावण्यातिशय प्रस्फुरित हो रहा है। नवकिसलय के समान उसके अधर की लालिमा, कोमल शाखाओं के सामन उसकी भुजायें तथा समस्त अङ्गों में फूल के समान व्याप्त उसका यौवन भला किसके मन को अधीर नहीं बना सकता ? यदि दुष्यन्त उस पर लुभा गया तो आश्चर्य ही क्या ?

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ १/२१॥

ऐसा प्रतीत होता है कि जगत्त्रय-स्रष्टा ब्रह्मा ने अपनी सौन्दर्य-कल्पना को साकार रूप देने के लिये ही समस्त सौन्दर्य-सामग्री को लेकर अपनी चित्त की तूलिका से ही शकुन्तला रूपी सजीव चित्र का निर्माण किया है। तभी तो वह एक अलौकिक एवं अप्रतिम स्त्री-रत्न के रूप में प्रतिष्ठित हो सकी—"**चित्रे निवेश्य .... वपुश्च तस्याः॥**" २/९॥

शकुन्तला दैवी सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। भला मानवीय सृष्टि में उसके (दैवी सौन्दर्य के) दर्शन कैसे हो सकते हैं ? प्रभा से तरल ज्योति क्या पृथिवी से उद्भूत हो सकती है ?—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।।१/२५।।

शकुन्तला के सौन्दर्य में एक ऐसी नैसर्गिक प्रखरता एवं दीप्ति है कि उसे अपनी सजावट के लिए अन्य किसी भी सौन्दर्योपकरण की आवश्यकता नहीं। उसका रूप आभूषणों का दास नहीं अपितु आभूषण उसके दास हैं, क्योंकि अनाभूषण को भी आभूषण बना देने की क्षमता उसमें विराजमान है। असुन्दर उपकरणों के मध्य भी उसका रूप निखर जाता है। तभी तो दुष्यन्त उसकी रूपसम्पत्ति की महिमा का गुणगान करते हुए कहता है—

''इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।'' १/१७।।

शकुन्तला के रूप में एक अपूर्व निष्कलुषता एवं पावनता है। वह ऐसे पुष्प के समान है जो कभी सूँघा न गया हो, ऐसे किसलय के सदृश है जो नख-क्षत से आहत न हो, ऐसे रत्न की भाँति है जिस पर कोई आघात न लगा हो तथा ऐसे मधु के सदृश है जिसके रस का आस्वाद न किया गया हो। वस्तुतः उसका रूप तो पुण्यों का अखण्डित फल ही है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ।।२/१०।।

उसके शारीरिक सौन्दर्य को एक ओर जहाँ उसकी लज्जाशीलता, शालीनता तथा सरलता आदि आध्यात्मिक गुणों ने महनीय बना दिया है, वहीं दूसरी ओर, उसके नवयौवन ने भी उसमें चार चाँद लगा दिये है— **''कुसुममिव सन्नद्धम्''**।

२. **एकनिष्ठ प्रेमिका**—आश्रम के वातावरण में पालित होने के कारण युवावस्था में विद्यमान होने पर भी शकुन्तला का यौवन के अभिन्न मित्र काम से परिचय अभी तक नहीं हुआ था, परन्तु दुष्यन्त के प्रथम दर्शनमात्र से ही उसके हृदय में भी काम सञ्चार हो जाता है—**'किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'** प्रथम अङ्क। निस्संदेह शकुन्तला के हृदय में उद्भूत इस प्रकार के काम-विकार से ही उसकी प्रणय-कहानी प्रारम्भ होती है। उसे स्वयं अपने हृदय के इस आकस्मिक तथा अप्रत्याशित प्रेम-विकार पर आश्चर्य होता है; क्योंकि इसके पूर्व उसे इस प्रकार की कोई अनुभूति नहीं हुई थी। उसका काम-विकार सखियों के परिहास एवं दुष्यन्त के सम्पर्क के कारण प्रेम-भावना का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि शील सङ्कोच-वश शकुन्तला अपने मनोविकार को प्रकट न होने देने प्रयत्न करती है परन्तु दुष्यन्त अपने प्रति उसकी प्रेमासक्ति को जान जाता है—

कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ।।

उसका प्रेमविकार बढ़ जाता है पर वह अपनी अभिन्न सहचरी दोनों सखियों से भी अपने प्रेम-विकार के बारे में बताने का साहस नहीं जुटा पाती "**बलवान् खलु मेऽभिनिवेश ..... निवेदयितुम्**" – अङ्क ३।

शकुन्तला का प्रेम अपने प्रियतम की अनुकूलता की अपेक्षा करता है। प्रेमी के तिरस्कार-भय से वह प्रणय-निवेदन हेतु स्वयं आगे नहीं बढ़ पाती—"**हला ! चिन्तयाम्यहं ! अवधारणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम् ।**" –तृतीय अङ्क।

दुष्यन्त के प्रति आसक्तचित्ता शकुन्तला उसके वियोग में जब दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगती है तब उसकी सखियों द्वारा बार-बार आग्रह करने पर शकुन्तला जिन शब्दों में अपनी मनोव्यथा का कारण बतलाती है उसमें उसके दुष्यन्त विषयक अविचल प्रेम का प्रकाशन होता है—"**तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथा सिञ्चतं मे तिलोदकम् ।**'

दुष्यन्त के वियोग-काल में वह चक्रवाकी की भाँति क्षण-प्रतिक्षण दुष्यन्त के चिन्तन में निमग्न रहती है। फलस्वरूप अतिथि-सत्कार न कर पाने के कारण उसे अदूरकोप, कोपावतार दुर्वासा के दारुण कोप का भाजन होना पड़ता है। सखियाँ तो उसके प्रेम की गहराई को अच्छी तरह समझती हैं— '**भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्**' –च० अङ्क। पर उससे क्या होता है ? अदूरकोप दुर्वासा तो इसे नहीं समझते।

सपत्नियों की समस्या पिता-पुत्री दोनों के समक्ष विद्यमान है। शकुन्तला की दोनों सखियाँ भी इससे अवगत हैं। शकुन्तला का अतीव चतुरता से यह लक्षित करके प्रियंवदा को कहना—'**हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन**'–अङ्क ३। सपत्नियों के प्रति नारीसुलभ उसकी ईर्ष्या का द्योतक है वहीं दूसरी ओर उसकी प्रेमसम्बन्धी एकाधार इच्छा का परिचायक है।

३. पतिव्रता पत्नी—पञ्चम अङ्क में पति से तिरस्कृत होकर वह पुरोहित के घर रहना पसन्द नहीं करती अपितु अपनी माता मेनका के साथ हेम-कूट पर्वत पर चली जाती है और वहीं पति-परित्यक्ता पतिव्रता सीता की भाँति अपनी विरहमय घड़ियाँ बिताती है—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घविरहव्रतं बिभर्ति ।।

नाटक के सातवें अङ्क में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का मिलन होता है। दुष्यन्त शकुन्तला द्वारा अपने को पहचान लिए जाने पर ही सन्तुष्ट एवं आनन्दित हो जाता है—

'प्रिये .... यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि' (सं० अं०)। वह उसके चरणों में अपराधी की भाँति गिर पड़ता है और अपनी क्रूरता के लिए पश्चात्ताप व्यक्त करता है। उस समय भी शकुन्तला सहिष्णु पतिव्रता नारी की भाँति दुष्यन्त के लिए किसी भी प्रकार के कठोर शब्द का प्रयोग नहीं करती है। केवल अपने भाग्य पर ही दोषारोपण करती हुई उसे उठाती है—

"उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुरा कृतं.......... सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः" ।

शकुन्तला के चरणों में दुष्यन्त का प्रणिपात शकुन्तला के एकनिष्ठ पतिप्रेम की विजय है और अपार वियोग रूप दारुण-दुःख के सहने पर भी अपने पति दुष्यन्त के प्रति कटु शब्द न कहना उसके पतिव्रता स्वरूप का परिचायक है।

४. **सुशीला एवं लज्जावती**—तपोवन के आत्मीय एवं स्नेहमय वातावरण में पालित एवं पोषित होने के कारण शकुन्तला स्वभावतः सुशीला एवं लज्जावती है। यद्यपि तीनों सखियाँ समवयस्का हैं और तीनों का जीवनयापन एक साथ हो जाता है, परन्तु शकुन्तला के शील एवं लज्जा ये दो गुण ऐसे हैं जो उसके व्यक्तित्व को अन्य दो सखियों से पृथक् कर देते हैं। दुष्यन्त के प्रथम दर्शन में ही उसके हृदय में काम-विकार का प्रादुर्भाव हो जाता है। (**किन्नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य**) परन्तु वह लज्जावश उसे प्रकट नहीं करती। प्रथम अङ्क में जब राजा उसके दैवी स्वरूप की प्रशस्ति करता है तो वह लज्जा के कारण सिर झुका लेती है — **'शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति'** ।

राजा के प्रति उसका उद्दाम प्रेम है पर वह उसका प्रकाशन शील सङ्कोचवश नहीं कर पाती। उसके इस गुण का वर्णन राजा स्वयं करता है—

"वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः .... मयि भाषमाणे" । तृतीय अंङ्क में राजा के प्रति आसक्ति के कारण उसकी मनःस्थिति उद्विग्न हो जाती है परन्तु अपनी सखियों से भी वास्तविक स्थिति बतलाने में वह सङ्कुचित होती है—**"यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः"** । यही नहीं जब एकान्त में उसका दुष्यन्त से मिलन होता है तब भी वह सहसा आत्मसमर्पण नहीं करती। उसे अपनी मर्यादा का ध्यान है, इसलिए वह राजा की आतुरता को देखकर शील की रक्षा करने के लिए कहती है और कामपीड़ित होने पर भी वह अपनी परवशता को प्रकट करती है—**"पौरव ! रक्ष विनयं मदनसन्तप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।"**

नाटक के अन्त में भी (सप्तम अङ्क) जब राजा उससे कहता है—शकुन्तले ! पुत्र को संभालो मैं तुमको आगे करके भगवान् मारीच के दर्शन करना चाहता हूँ —

"शकुन्तलेऽवलम्ब्यताम् पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि" तब वह उनके साथ गुरुजन के समीप जाने में होने वाली अपनी लज्जा का प्रकाशन इन शब्दों में करती है—**"जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्"** ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दुष्यन्त के साथ प्रथम मिलन से लेकर अन्तिम मिलन तक शकुन्तला में लज्जा, शील, सङ्कोच एवं मर्यादा अक्षुण्ण रूप से बनी रहती है।

५. **स्वाभिमानिनी**—शकुन्तला के व्यक्तित्व में विनयशीलता के साथ स्वाभिमान का मणिकांचन योग है। उसका स्वाभिमान तब जागता है जब उसके सम्मान, आचरण एवं वंश आदि की गरिमा पर कोई चोट पहुँचाता हैं। ऐसा ही अवसर नाटक के पञ्चम अङ्क में उपस्थित होता है। राज-सभा में गौतमी, शार्ङ्गरव तथा शारद्वत की उपस्थिति में जब राजा **'किमिदमुपन्यस्तम्'** कह कर शकुन्तलाके साथ अपने विवाह के विषय में अपनी अनभिज्ञता सूचित करता है तो उसके हृदय को अपमान का पहला धक्का लगता है। परन्तु वह शार्ङ्गरव और राजा के वाग्युद्ध को तब तक चुपचाप धैर्य के साथ सुनती रहती है जब तक गौतमी उसके घूंघट को हटाकर उसे अपने विवाह को प्रमाणित करने का आदेश नहीं देती। गौतमी के आदेश से वह "आर्यपुत्र !" इस सम्बोधन को कहकर भी रुक जाती है और एक प्रकार से उस सम्बोधन को वापस लेकर वह 'पौरव' इस सम्बोधन से राजा को सम्बोधित कर कठोरता पूर्वक कहती है—"**पौरव ! न युक्तं .... प्रत्याख्यातुम्**"।

आगे जब अन्य प्रमाणों से भी राजा सन्तुष्ट नहीं हो पाता और आक्षेप करता ही रहता है तब तक भी वह सहती रहती है पर ज्यों ही वह "**स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वमद .....पोषयन्ति**" ॥५-२२॥ कह कर समस्त स्त्री-जाति को अपने दोषारोपण का निशाना बनाता है तब तो उसका स्वाभिमान वाचाल हो जाता है और वह रोषपूर्वक राजा को 'अनार्य' इस सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए कती है—"**अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन .... प्रतिपत्स्यते**"— पञ्चम अङ्क। आर्य-नारी सब कुछ सहन कर सकती है पर वह अपने प्रेम का अपमान तथा चरित्र का लांछन नहीं सह सकती। अन्त में पुरोहित के घर रहने का प्रस्ताव एवं शार्ङ्गरव की डाँट उसके स्वाभिमान को दोहरी ठेस पहुँचाते हैं। परिणाम-स्वरूप वह "**भगवति वसुन्धरे ! देहि मे विवरम्**" कहकर माँ वसुन्धरा से शरण देने की याचना करती है।

६. **कार्यकुशलता**—शकुन्तला शिक्षिता तो है ही साथ ही वह काव्यरचना मे भी दक्ष है। वह अपनी सखियों के कहने पर प्रेम-पत्र के अनुरूप गीत की रचना करती है—-"**तव न जाने हृदयं......**" वह पशु-पक्षियों के लालन-पालन, वनस्पतियों की देख-भाल तथा अतिथि-सत्कार एवं गृह-कार्यों में निपुण है। आश्रम से बाहर जाते समय महर्षि कण्व उसके ऊपर अतिथि-सत्कार का भार छोड़ते हैं—'**इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य ... सोमतीर्थं गतः**" प्रथम अङ्क।

७. **आदर्श पुत्री एवं सखी**—पिता कण्व का शकुन्तला के प्रति अत्यन्त प्रगाढ वात्सल्य-भाव है। उनके अनुमति के बिना सम्पन्न शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का उनके द्वारा किया गया समर्थन यह सिद्ध करता है कि वे पुत्री-स्नेह से कितने कातर हैं। यह

शकुन्तला जैसी धर्म-पुत्री के ही सामर्थ्य की बात है जो कण्व जैसे वनवासी वीतरागी को भी तनयाविश्लेषजनित दुःख से भावविह्वल बना देती है—"**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति**"। अपने पितृवियोग से शकुन्तला अत्यन्त अधीर हो जाती है – "**कथमिदानीं तातस्याङ्कात्.....जीवितं धारयिष्यामि**" और उसे अपने पिता की चिन्ता विह्वल कर रही है।

उसमें एक आदर्श सखी के सभी गुण दिखलायी देते हैं। अनसूया एवं प्रियंवदा दोनों सखियो के साथ वह जिस प्रकार का सख्य भाव निभाती है वह अनुपम है। वह सुख-दुःख सङ्गिनी अपनी दोनों सखियों से अपने मनोगत भाव तक नहीं छिपा पाती। वह अपने साथ ही प्रियंवदा तथा अनसूया को भी पतिगृह ले जाना चाहती है—'**तात इत एवं ... निवर्तिष्येते**" पर पिता कण्व उनकी कौमार्यावस्था को ध्यान में रखकर मना कर देते हैं—"**वत्से इमे अपि प्रदेये .... गन्तुम्**"।

८. **निसर्ग कन्या**—शकुन्तला का जन्म तथा लालन-पालन प्रकृति की गोद में होता है। परिणामस्वरूप वह प्रकृति के साथ इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसके व्यक्तित्व एवं जीवन का आकलन प्रकृति से पृथक् करके नहीं किया जा सकता। नाटक में सर्वप्रथम उसके दर्शन प्रकृति की सेवा करते हुए ही होते हैं, जब वह अपनी प्रिय सखियों के साथ वृक्षों के सेचन में संलग्न है। तपोवन के वनस्पतियों के प्रति उसका सहोदर स्नेह है। वनस्पतियों की सेवा वह "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' की दृष्टि से नहीं करती अपितु उनके प्रति भ्रातृतुल्य प्रेम होने के नाते करती है—'**न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु**'—प्रथम अङ्क।

तपोवन के वृक्षों-लताओं के प्रति उसका भाई-बहन जैसा स्नेह है। पशु तथा पक्षियों को वह पुत्रवत् मानती है। वृक्षों को बिना सींचे वह जल नहीं पीती, प्रियमण्डना होने पर भी वृक्षों-लताओं से किसलयादि नहीं तोड़ती और उनमें पहले-पहल पुष्पादि के निकलने पर वह उत्सव मनाती है— "**पातुं न प्रथमं.... सर्वैरनुज्ञायताम्**", ४-९॥

मृगों की सेवा शुश्रूषा में वह सदा तत्पर रहती है। उनके मुख में कुशादि से बिंध जाने पर घावों को भरने वाली इंगुदी का तेल लगाती है। उन्हें श्यामाक की मुट्ठियाँ भर-भर कर खिलाती है। उन्हीं में से पुत्रवत् पालित मृग तो उसकी विदाई के समय विरहकातर होकर उसका मार्ग रोक देता है—"**यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां .....पदवीं मृगस्ते**" ४/१४॥ मातृविहीन उस मृग को वह सान्त्वना देकर लौटाती है। कुटिया के पास सदा विचरण करने वाली गर्भमन्थरा मृगवधू के सुखप्रसव का समाचार भेजने के लिये पिता से कहती है—"**तात एषोटज पर्यन्त ....विसर्जयिष्यथ**"— चतुर्थ अङ्क। वृक्ष-लताओं के सेचन के समय केसर वृक्ष तो उसे पल्लव रूपी अंगुलियों के इङ्गित से अपनी ओर बुलाता सा प्रतीत होता है,—"**वातेरित... केसरवृक्षक:**"— प्रथम अङ्क। विदा के समय वह वनज्योत्स्ना से उसकी शाखा-रूपी बाहों से लिपट कर उसी प्रकार गले मिलती है जिस प्रकार कन्यायें अपने पतिगृह-गमन-बेला में अपनी माँ-बहनों से गले लगती हैं।

प्रकृति की सेवा शकुन्तला का दैनन्दिन का व्रत बन गया है। वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सभी उसके अभिन्न अङ्ग हो गये हैं। उसने अपने ममतामय व्यवहार से सबको इतने सान्निध्य में ला दिया है कि सभी एक ही स्नेहमय तादात्म्य के धागे से बँध गये हैं। अत: यह कहना कठिन सा है कि 'प्रकृति शकुन्तला का अभिन्न अङ्ग है अथवा शकुन्तला प्रकृति का'। ऐसी दशा में प्रकृति की लाड़ली पुत्री को यदि आलोचकगण 'निसर्ग कन्या' की उपाधि से विभूषित करते हैं तो कौन सा एहसान करते हैं ? विदा के समय यदि वनस्पति शकुन्तला की सज्जा के लिए कौशेय तथा आभूषण आदि देते हैं यो यह उनका दायित्व है—**'क्षौमं केनचिदिन्दु ....प्रतिद्वन्द्विभिः'** ४/५। पतिगृह जाते समय अपनी बेटी को कौन बाप नहीं सजाना चाहता ? यदि मृगियों ने ग्रास चबाना छोड़ दिया है, मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया है और लताओं ने पीले पत्तों के रूप में आँसू बहाना प्रारम्भ कर दिया है—**"उद्गलितदर्भकवला- लता:"**—४/१२ ॥ तो यह उनकी व्यथा की पुकार है। कौन ऐसा भाई और बहिन है जो अपनी सगी बहन की विदाई में व्यथित नहीं होता ? यह सब कुछ निसर्गकन्या शकुन्तला के निसर्ग के (प्रकृति) के प्रति उसके नैसर्गिक प्रेम का जादू है।

अनसूया और प्रियंवदा

अनसूया और प्रियंवदा दोनों शकुन्तला की प्रिय सखियाँ हैं और एक प्रकार से दोनों शकुन्तला के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया सी प्रतीत होती हैं। उन दोनों को पृथक् कर शकुन्तला के प्रारम्भिक स्वरूप का आकलन कठिन है। सखीद्वय की अवस्था एवं सौन्दर्य लगभग शकुन्तला के समान ही है। उन्हें देखते ही राजा दुष्यन्त के मुख से सहसा यह प्रशस्ति-वाक्य निकल ही पड़ता है—**"अहो मधुरमासां दर्शनम्"**—प्रथम अङ्क। यदि शकुन्तला दुष्यन्त की दृष्टि में आश्रमाकाश की चन्द्रलेखा है तो सखीद्वय तदनुगामी विशाखा नक्षत्र–**'किम चित्रं यदि विशाखे शशाङ्करेखामनुवर्तेते"** —तृ० अङ्क। तीनों सखियों का परस्पर सौहार्द-भाव समान वय और रूप के कारण अत्यन्त रमणीय हो गया है—**"अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्"**—प्रथम अङ्क।

प्रथम अङ्क से लेकर चतुर्थ अङ्क के विदाई-प्रसङ्ग तक शकुन्तला के साथ दोनों की अविनाभाव उपस्थिति नाटकीय कथावस्तु के विकास में सहायक होती है। साथ ही शकुन्तला के चरित्रगत वैशिष्ट्य को भी उद्भासित करती है। वस्तुत: ये दोनों स्त्री पात्र महाकवि कालिदास की नाट्य-प्रतिभा की देन है। दोनों के चरित्र में साम्य और वैषम्य दोनों है जिनका उल्लेख इस प्रकार है—

समतायें

१. दोनों शकुन्तला की समवयस्का हैं और सौन्दर्य में लगभग उसके समान ही हैं।

२. दोनों '**पापान्निवारयति योजयते हिताय**' मित्र के इस लक्षण के अनुसार सुख-दुःख दोनों में सदा उसके (शकुन्तला के) साथ रहती हैं और हृदय से शकुन्तला का अहर्निश हित-चिन्तन करती हैं तथा तत्सम्बन्धी गोपनीय बातों का गोपन करती हैं। जब उन्हें दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला की प्रेमासक्ति का ज्ञान हो जाता है तब वे प्राण-प्रण से दोनों के मिलन हेतु सचेष्ट होती हैं। दुर्वासा के भीषण शाप को सुनकर दोनों का हृदय विदीर्ण हो जाता है।

३. दोनों का नाम अन्वर्थक है। अनसूया (न असूया अनसूया) यदि आत्मीय-जनों के प्रति ईर्ष्याद्वेषादि से रहित है, तो वहीं प्रियंवदा (प्रियं वदति) सदा प्रिय बोलने वाली है।

४. दोनों में शिष्टता, विनम्रता तथा मधुरभाषित्व है। सम्पर्क में आने पर कोई भी व्यक्ति उनके व्यवहार से अप्रभावित नहीं रह सकता। उनके प्रभाव से प्रभावित होकर राजा स्वयं कहता है—'**भवतीनां सूनृतयैवकृतमातिथ्यम्**' —प्रथम अङ्क। दोनों ही शाप-निवृत्ति के लिए यत्नशील होती हैं। दोनों के लिए शकुन्तला का संयोग जितना मधुर है, वियोग उतना ही दुःखदायी। (चतुर्थ अङ्क)

५. सामान्यत: दोनों को कामशास्त्र का ज्ञान है। शकुन्तला जब काम-ज्वर से ग्रस्त होती है तब कमल-नाल, कमल-पत्र और चन्दनादि के लेप से उसके उपचार में तल्लीन होती हैं (तृतीय अङ्क)। दोनों को लोकव्यवहार, चित्रकला, मनोदशा आदि की जानकारी है।

विषमतायें

१. अनसूया स्वभाव से वाग्विदग्ध, व्यवहार-कुशल एवं प्रौढ़ है। साधारणत: हास्यकर बातों में उसकी अभिरुचि नहीं हैं। उसके व्यवहार में एक प्रकार की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। राजा जब तपोवन में उससे मिलता है तो उसके साथ बातचीत करने में वह स्वल्प भी सङ्कोच नहीं करती। एक प्रकार से परस्पर वार्तालाप का आरम्भ वही करती है—"**आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता**" प्रथम अङ्क। अतीव शिष्ट ढंग से राजा का परिचय पूछती है—"**कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽऽलङ्क्रियते ? ..... पदमुपनीत:**"—प्रथम अङ्क। शकुन्तला के जन्म और लालन-पालन के वृत्तान्त की कथा राजा को अनसूया ही सुनाती है। उसका वाक्चातुर्य स्पष्ट है।

इसके विपरीत प्रियंवदा में अत्यधिक विनोदप्रियता एवं चपलता है। अपने विनोदप्रिय आलाप से वह पूरे वातावरण को सजीव एवं मनोरम बनाये रहती है। शकुन्तला जब अनसूया से प्रियंवदा द्वारा वल्कल को अधिक कसने का उलाहना देती है तो वह परिहासमय ढंग से उत्तर देती है—"इसमें मेरा अपराध नहीं है। अत: मुझे उलाहना न देकर पयोधर-विस्तारी अपने यौवन को उलाहना दो-"**अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व**" —प्रथम अङ्क। इसी प्रकार जब शकुन्तला वनज्योत्स्ना तथा आम्रवृक्ष

की ओर स्नेहमयी दृष्ट से देखती है तो प्रियंवदा अपने स्वभावानुरूप उसका मजाक उड़ाती हुई कहती है—**"यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सङ्गता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ?"**—प्रथम अङ्क।

शकुन्तला जब केसर के वृक्ष को सींचने हेतु उसके समीप पहुँचती है तो प्रियंवदा थोड़ी देर वहीं रुकने का आग्रह करती है—**"हला ! शकुन्तले... प्रतिभाति"**—प्रथम अङ्क। उसके इस प्रकार के आग्रह को सुनकर तथा उसके अभिप्राय को समझकर शकुन्तला अत्यन्त प्रसन्न हो जाती है और सहसा कह बैठती है—**"अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्"**—प्रथम अङ्क।

२. अनसूया में प्रियंवदा की अपेक्षा धैर्य तथा गाम्भीर्य अधिक है। दुर्वासा के शाप को सुनकर प्रियंवदा सहसा व्यग्र हो जाती है—**"हा धिक्, हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्।"** तब अनसूया धैयपूर्वक उसे दुर्वासा का अनुनय करने को कहती है—**"कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति....... उपकल्पयामि"** —चतुर्थ अङ्क। प्रियंवदा कहीं चपलतावश इस दारुण शापवृत्तान्त को शकुन्तला से न बता दे वह प्रियंवदा को तदर्थ मना करती है—**"प्रियंवदे द्वयोरेव......प्रकृतिपेलवा प्रिय सखी"** —चतुर्थ अङ्क।

इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में जब प्रियंवदा के मन में शंका उठती है कि पिता कण्व गान्धर्व विवाह के वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या सोचेंगे—**"तात इदानीं .... प्रतिपत्स्यत इति"**, तो अपनी विवेक-बुद्धि का परिचय देती हुई वह (अनसूया) उत्तर देती है—**"यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत् गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः।.... गुरुजनः"**।

३. अनसूया शंकालु है और किसी भी विषय का सम्यक् ऊहापोह करती है। चतुर्थ अंक में वह इसलिए चिन्तित हो रही है कि राजा अपने नगर में पहुँचने के बाद शकुन्तला के साथ किये गये अपने विवाह का स्मरण करेगा या नहीं—**"अद्य स राजर्षि......वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति"**—चतुर्थ अङ्क।

इसके विपरीत प्रियंवदा अपेक्षाकृत निःशंक और निश्चिन्त स्वभाव वाली है। वह किसी विषय के पूर्वापर के विचार में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहती। उसे अनसूया की आशंका का कोई आधार नहीं दिखता। उसे पूरा विश्वास है कि **"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"** के अनुसार सुन्दर आकृति की वाला दुष्यन्त गुणरहित नहीं हो सकता। **"न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति"**। वह अपने वचनों का अवश्य पालन करेगा।

४. अनसूया को वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की चिन्ता अधिक रहती है और उसमें व्यावहारिक बुद्धि भी अधिक है। वह अपनी सखी शकुन्तला के सुखद भविष्य को देखना चाहती है। तृतीय अङ्क में वह राजा से यह वचन (आश्वासन) लेना चाहती है कि **"वह अपनी अनेक रानियों के बीच उसकी उपेक्षा न करे"**–**"वयस्य, बहुवल्लभा राजानः**

श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय''—तृ० अं और राजा द्वारा उसकी प्रियसखी को गौरवपूर्ण स्थान देने का यह आश्वासन –''**परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे.....चोर्वी सखी च युवयोरियम्**'' —तृ० अं०, मिल जाने पर आश्वस्त हो जाती है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे सजाने के लिए वह पहले से ही आम्र की डाल पर लटकने वाले नारियल के डिब्बे में केसरमालिका को रख देती है।

'**तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते.....केसरमालिका**'—च० अङ्क।

इसके विपरीत प्रियंवदा ''**वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति मनीषिणः** के अनुसार वर्तमान को अधिक देखती है। प्रथम अङ्क में जब दुष्यन्त का आगमन होता है और वह शकुन्तला के जन्मादि के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है तो तब सारा वृत्तान्त तो अनसूया बतलाती है परन्तु ''**गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः**'' कहकर प्रणय-प्रसंग को आगे ले चलने का संचालन प्रियवंदा ही करती है। तृतीय अङ्क में उसके मदनलेख के क्रियाकलाप भी इसी की पुष्टि करते हैं।

५. अनसूया प्रियंवदा की अपेक्षा अपने पिता के अधिक निकट है, क्योंकि तात कण्व विदाई के अवसर पर उसे ही अनेक बार सम्बोधित करते हैं। चतुर्थ अङ्क में जब अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तला के लिये रोने लगती है तब वह (कण्व) अनसूया को सम्बोधित कर समझाते हैं— ''**अनसूये अलं रुदित्वा .... शकुन्तला**''— च०अं०। इसी प्रकार से आश्रम को अपने वियोग से विह्वल बनाकर शकुन्तला के चले जाने पर जब दोनों सखियाँ अपना दुःख प्रकट करती हैं तब वह (कण्व) अनसूया से ही अपनी कातरता व्यक्त करते हैं और उन्हें आश्रम लौटने को कहते हैं—''**(सनिःश्वासम्) अनसूये! गतवती वां सहचारिणी .... प्रस्थितम्**'' —च०अं०। वह अपने पिता के स्वभाव तथा विचार को निकट से जानती है। इसीलिए चतुर्थ अङ्क में प्रियंवदा के इस भय—''**शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वे अनुमोदन करेंगे या नहीं**' का वह तुरन्त निवारण कर देती है (चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ)

६. अनसूया अपेक्षाकृत प्रणय-सम्बन्धी क्रियाकलाप से अनभिज्ञ है। प्रथम अङ्क में शकुन्तला जब एकाग्रचित्त होकर सहकार वृक्ष से सम्पृक्त वनज्योत्स्ना को देखती है और उनके परस्पर समागम की प्रशंसा करती है तो उसके हृदयगत रहस्य को प्रियंवदा समझती है—''**यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सङ्गता.....वरं लभेयेति**''— प्र० अं। परन्तु जब वह अनसूया से शकुन्तला के एकटक सहकार वृक्ष एवं वनज्योत्स्ना को देखने का कारण पूछती है तो वह रहस्य जानने में अपनी असमर्थता व्यक्त करती है—''**न खलु विभावयामि**''। इससे अनूसया की कामविषयक अनभिज्ञता ही सूचित होती है।

इसके विपरीत प्रियंवदा प्रणय-व्यापार के स्वरूप को अच्छी प्रकार जानती है और एक प्रकार से शकुन्तला के प्रणय-व्यापार में सूत्रधार का कार्य वही करती है। तृतीय अङ्क

में जब शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ हो जाती है तब सबसे पहले प्रियंवदा ही उसके सन्ताप के मूल कारण (दुष्यन्त के प्रति प्रेम) को जान जाती है और अनसूया से उसके बारे में बतलाती है—"(जनान्तिकम्) अनसूये ! तस्य राजर्षे......अयमातङ्को भवेत् "—तृ०अं। यही नहीं विरह-व्यथित दुष्यन्त की शारीरिक कृशता के कारण को भी वह समझ जाती है—**"ननु न राजर्षिरस्या.....प्रजागरकृशो लक्ष्यते"**—तृ० अं०।

तृतीय अङ्क में अनसूया द्वारा शकुन्तला के सन्ताप को दूर करने के लिए उपाय के बारे में पूछने पर मदन लेख (लव लेटर) लिखने का प्रस्ताव प्रियंवदा ही रखती है।**"हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्"** और मदनलेख सम्बन्धी प्रस्ताव का क्रियान्वयन भी वही (प्रियवंदा) कराती हैं। मदनलेख को राजा के पास गुप्त रूप से कैसे पहुँचाया जाय ? इस प्रश्न का समाधान भी वही (प्रियंवदा) करती है **'वह स्वयं फूलों में छिपा कर प्रेमपत्र को देवता के प्रसाद के बहाने राजा के पास पहुँचा देगी'**—**'तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्ते प्रापयिष्यामि'**— तृ० अं०। एक तापस-कन्या (प्रियंवदा) की प्रेमपत्रलेखनपटुता तथा उसको प्रेमी तक पहुँचाने के लिये अपनायी जाने वाली उक्त प्रक्रिया दोनों आश्चर्यकर हैं। प्रथम अङ्क में तापस-कन्याओं की नैसर्गिक माधुरी पर मुग्ध होने वाले दुष्यन्त को यदि कहीं प्रियंवदा की काम सम्बन्धी इस कमनीय कला का भी पता चल गया होता तो निःसन्देह वह **'मधुरमासां दर्शनम्'** कह कर न रुक जाता अपितु न जाने क्या-क्या सोचता और कहता।

शार्ङ्गरव तथा शारद्वत

समतायें—कुलपति कण्व के शिष्यों में शार्ङ्गरव तथा शारद्वत प्रमुख हैं। इन दोनों शिष्यों का नाटक में चित्रण स्वल्प मात्रा में ही हुआ है तथापि अनसूया और प्रियंवदा की भाँति उनमें भी व्यक्तिगत विशेषतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार अनसूया और प्रियंवदा के चरित्र में तारतम्य रखा है उसी प्रकार शार्ङ्गरव और शारद्वत के व्यक्तित्व में भी। हमें शिष्यद्वय के दर्शन सर्वप्रथम नाटक के द्वितीय अङ्क में तब होते हैं जब दोनों (शिष्य) राजा दुष्यन्त को आश्रम का समीपवर्ती जान कर उससे यज्ञ की रक्षा हेतु प्रार्थना करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कण्व अपनी अनुपस्थिति में इन शिष्यों के ऊपर कार्य-भार छोड़ देते हैं। महर्षि कण्व शार्ङ्गरव तथा शारद्वत इन दोनों के नाम के आगे आदर सूचक "मिश्र" शब्द का प्रयोग करते हैं—"क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः" चतुर्थ अङ्क। इससे ज्ञात होता है कि वे दोनों परिपक्व आयु वाले तथा विद्या निष्णात हैं। गुरु का उनके ऊपर अटूट विश्वास है तभी तो महर्षि उनकी देखरेख में शकुन्तला को उसके पतिगृह भेजते हैं। राजा दुष्यन्त इन दोनों के गरिमामय व्यक्तित्व को देख कर उन्हें गुरुसमान कहता है—"गुरुशिष्ये गुरुसमे"—षष्ठ अङ्क। शास्त्र-ज्ञान के साथ ही साथ उनमें लौकिक ज्ञान भी विद्यमान है। शकुन्तला के प्रस्थान के समय जब महर्षि कण्व उसे विदा देने के लिए बहुत

दूर तक चले आते हैं तब मार्ग में सरोवर को देखकर शार्ङ्गरव कण्व से आश्रम में लौट जाने को कहता है—“**भगवन्, ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हति**” —चतुर्थ अङ्क। आश्रम में रहने के कारण दोनों के हृदय में संसार के प्रति अनास्था है। हस्तिनापुर नगर में प्रवेश करते समय एक ओर जहाँ शार्ङ्गरव जनाकीर्ण राजभवन को अग्नि की लपटों में घिरा हुआ समझता है–“**जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव**”—पञ्चम अङ्क, वहीं दूसरी ओर शारद्वत नगर के भोगासक्त लोगों को उसी प्रकार समझता है जिस प्राकर स्नात व्यक्ति तैलसिक्त को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, प्रबुद्ध व्यक्ति सोये हुए को और स्वच्छन्दचारी व्यक्ति बन्धन-मुक्त को समझता है—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव
स ा ु ट त ा म ा े ।
बुद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ।।५/११ ।।

पर उक्त समानताओं के बावजूद दोनों के चरित्र में विषमतायें भी विद्यमान हैं, जिनके कारण दोनों का स्वरूप पृथक् हो जाता है—

विषमतायें—१. शार्ङ्गरव शारद्वत से अपेक्षाकृत अधिक वाक्पाटु एवं लौकिक व्यवहार का ज्ञाता हैं। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर महर्षि कण्व उसे “शार्ङ्गरवमिश्राः” कह कर पुकारते हैं, उसी के माध्यम से दुष्यन्त को सन्देश भी भिजवाते हैं तथा शकुन्तला को पतिगृह पहुँचाने का मुख्य भार भी उसी के ऊपर सौंपते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वह अवस्था में शारद्वत से बड़ा है तथा कण्व का अधिक विश्वास-पात्र एवं स्नेह-भाजन है। उसकी वाक्पटुता प्रत्येक अवसर पर मुखरित होती रहती है। कण्व का सन्देश सुनने के बाद “**गृहीतः सन्देशः**” कह कर वह कर्तव्य पालन के प्रति अपनी जागरूकता प्रकट करता है।

इसके विपरीत शारद्वत मितभाषी है, अवसर उपस्थित होने पर वह तभी बोलता है जब उसका बोलना अपेक्षित हो जाता है। वह अपने से बड़ों के सामने बोलने से सङ्कोच करता है।

२. शार्ङ्गरव अत्यन्त निर्भय एवं स्पष्टवादी है। वह “**स्पष्टवक्ता न वञ्चकः**” के मर्म को अच्छी प्रकार जानता है। अतः स्पष्ट बोलने में इस बात का भी ध्यान नहीं रखता कि वह गुरुजनों के सामने बोल रहा है अथवा छोटे के। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर जब विलम्ब होने लगता है तो शकुन्तला से शीघ्रता करने के लिए कहता है—“**युगान्तरमारूढः सविता त्वरतामत्रभवती**”–चतुर्थ अङ्क। उसे चाटुकारिता पसन्द नहीं है। राजसभा में जब उन दोनों से पुरोहित राजा की प्रशंसा करता है तब वह उसके प्रति अपनी उदासीनता स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर देता है—“**भो महाब्राह्मण काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः**”–पञ्चम अङ्क।

३. शार्ङ्गरव स्वभावतः क्रोधी, उद्धत तथा कठोर है और वह "**यथा नाम तथा गुणः**" की उक्ति को चरितार्थ करता है, क्योंकि शार्ङ्गरव का शाब्दिक अर्थ है "धनुष के समान शब्द करने वाला"। राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला के साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को अस्वीकार करता है तब शार्ङ्गरव राजा को डाँटता है तथा उसे शठ, अधार्मिक और ऐश्वर्योन्मत्त आदि कह कर फटकारता है—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ।।५/२०।।
आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।।५/२५।।

दुष्यन्त के अपमानजनक व्यवहार से जब दुःखी होकर और मुख ढँककर शकुन्तला रोने लगती है तब वह उसे भी फटकार सुनाने से बाज नहीं आता—"**इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति**"—पञ्चम अङ्क।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ।।५/२४।।

यही नहीं जब राजसभा में शकुन्तला को छोड़कर गौतमी सहित शिष्यद्वय प्रस्थान करने लगते हैं तब शकुन्तला उनके पीछे लौटने लगती है। ऐसे समय वह उसे कठोरता पूर्वक डाँटता है—"**किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे**" (अङ्क ५)। यहाँ इतना अवश्य है कि यदि शार्ङ्गरव डाँटकर शकुन्तला को वहाँ रोक न देता तो शकुन्तला उन सभी के साथ आश्रम को लौट जाती और ऐसी स्थिति में घटनाक्रम ही परिवर्तित हो जाता।

वस्तुतः शार्ङ्गरव के स्वभाव में "**अदूरकोपा हि मुनिजनप्रकृतिः**"। इस उक्ति का भाव भरा है। एक ओर उसे ऋषि होने का अभिमान है तो दूसरी ओर उसके ऊपर ब्रह्मतेज हावी हो जाता है और ऐसे समय में वह यह भी भूल जाता है कि उसे किस कार्य के सम्पादन का दायित्व निभाना है।

इसके विपरीत शारद्वत ऐसे अवसर पर अपनी बात को धैर्य के साथ कहता है। वह वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता। उसे शार्ङ्गरव का राजा के साथ वाक्युद्ध अच्छा नहीं लगता। वह शार्ङ्गरव को बीच में ही रोक देता है और शकुन्तला को ही उत्तर देने को कहता है—(पञ्चम अङ्क) "**शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले वक्तव्यमुक्तस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।**" और शार्ङ्गरव और राजा के मध्य पुनः वाक् युद्ध छिड़ने पर वह पुनः शार्ङ्गरव को रोककर उससे कहता है कि 'हमने गुरु के सन्देश को राजा तक पहुँचा दिया और हम लोग लौट चलें—"**शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः प्रतिनिवर्तामहे वयम्**" (पञ्चम अङ्क)। पुनः राजा से यह कह कर

सबके साथ प्रस्थान करता है कि 'यह (शकुन्तला) आप की प्रेयसी है। इसको आप छोड़ें अथवा ग्रहण करें, क्योंकि पत्नी पर पति की सब प्रकार की प्रभुता मानी गयी है—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।।५/२६।।

इस प्रकार शार्ङ्गरव एवं शारद्वत की नाटक में "**सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः**" होने पर भी दोनों में चरित्रगत वैशिष्ट्य की विभिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

विदूषक

संस्कृत-नाटकों में विदूषक भी एक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विदूषक-स्वामिभक्त, मनोविनोद में निपुण, कुपित नायिकाओं के मान का भञ्जक एवं सच्चरित्र होता है। उसका नाम कुसुम, वसन्त आदि से सम्बद्ध रहता है और वह अपने अटपटे कार्यों, विकृत अंगों तथा वेषादि के द्वारा हास्य का वातावरण प्रस्तुत करता है। वह नायक का विश्वासपात्र होता है तथा उसके प्रणय सम्बन्धी क्रिया-कलापों में सहायता पहुँचाता है। कालिदास के सभी नाटकों में मुख्य रूप से मनोविनोद का दायित्व विदूषक का ही है। अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का नाम माढव्य है। सर्वप्रथम उसके दर्शन द्वितीय अङ्क में होते हैं। वह अपने प्रथम दर्शन में ही नाट्य-दर्शकों (अथवा पाठकों) को अपनी अकर्मण्यता एवं भोजनभट्टता का परिचय देता है—"**एतस्य...रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति**"। द्वितीय अङ्क।

भोजनपटु—(माढव्य) विदूषक इतना पेटू एवं भोजनप्रिय है कि उसे प्रायःबुभुक्षा दबोचे रहती है। उसकी आराध्य देवी बुभुक्षा की तो यह विशेषता है कि वह अवसर का भी ध्यान नहीं रखती। षष्ठ अङ्क में शकुन्तला के वियोग में अत्यन्त व्यथित होकर राजा जब अपनी अँगूठी को उपालम्भ देते हैं तो उस गम्भीर अवसर पर भी उसे बुभुक्षा प्रताडित करती है—"**कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि**" (षष्ठ अङ्क)। राजा दुष्यन्त जब उससे शकुन्तला के प्रणय-व्यापार में अपनी सहायता करने के लिए कहता है—"**विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्**" (द्वितीय अङ्क) तब भी वह "**किं मोदकखण्डिकायाम्**" (द्वितीय अङ्क) कहकर अपनी पेट-पूजा-पटुता का ही प्रकाशन करता है।

भीरु एवं अकर्मण्य—वह स्वभाव से अत्यन्त भीरु एवं डरपोक है। शकुन्तला के दर्शन हेतु वह भी समुत्सुक था, पर जब वह राक्षसों का वृत्तान्त सुनता है, तब डर जाता है और उसकी शकुन्तला-दर्शन की निर्बाध इच्छा सबाध हो जाती है—"**प्रथमम् परिबाधमासीत् साम्प्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सपरिबाधम्**" (द्वितीय अङ्क)।

राजा के मृगया व्यसन के कारण उसकी कामचोरी को विश्राम का स्वल्प भी अवसर नहीं मिलता। अतः वह किसी न किसी प्रकार का बहाना बनाकर विश्राम की ताक

में पड़ा रहता है। काम से बचने के लिए वह अङ्ग-भङ्ग के द्वारा अपनी विकलता का परिचय देने की बात सोच लेता है—"**अङ्ग-भङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय**" (द्वितीय अङ्क)।

हास्यकारी—विदूषक अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप एवं भाव-भङ्गिमा से हास्य के वातावरण की सृष्टि करता है। जब राजा दुष्यन्त के सामने एक ही साथ ऋषियों की यज्ञ-रक्षा तथा माता की आज्ञा से राजधानी जाने के दो कार्य उपस्थित हो जाते हैं और वह एक प्रकार से धर्म-सङ्कट में पड़ जाता है तब वह (विदूषक) कहता है—"**त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ।**" (द्वितीय अङ्क)। राजा के मुख से जब वह भोली-भाली तापसकन्या के प्रति उसकी (राजा की) प्रणय-कथा को सुनता है तो बड़े हास्यपूर्ण ढंग से कहता है—"**यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिणो भवत इयमभ्यर्थना**" (द्वितीय अङ्क)। इसी प्रकार राजा के मुख से शकुन्तला के सौन्दर्यातिशय के विषय में जान लेने पर उसका—"**तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति**" (द्वितीय अङ्क)। यह कथन भी सहृदय समाज को हास्य की सरिता में सराबोर कर देता है। यह शब्दगत विनोद करने में भी निपुण है। राजा के प्रति उसकी "**कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि**" (द्वितीय अङ्क) यह उक्ति कितनी विनोदपूर्ण है। विदूषक की हास्यभरी टिप्पणियाँ खिन्न व्यक्ति को भी हँसने के लिए बाध्य कर देती हैं।

मन्दबुद्धिता तथा वाचालता—विदूषक यत्र तत्र अपनी मन्दबुद्धिता का भी परिचय देता है। षष्ठ अङ्क में राजा के द्वारा आम्रमञ्जरी को मदन बाण कहने पर वह काष्ठ-दण्ड लेकर मारने को दौड़ता है। उसकी मूर्खता पर खिन्न राजा भी हँस पड़ता है। सानुमती की दृष्टि में भी वह मन्दबुद्धि है—"**अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य माधदृष्टिरयं जनः**" (षष्ठ अङ्क)।

द्वितीय अङ्क की समाप्ति पर जब राजा उसे अपने प्रतिनिधि के रूप में अपनी माता के पास भेजता है तब राजा को भय हो जाता है कि कहीं वह उसकी प्रणयकथा को अन्तःपुर की रानियों से न कह दे। इसलिये राजा अपनी प्रणय-कहानी को हँसी में कहीं हुई बात कह कर उसे सत्य न मानने का आग्रह करता है—"**परिहासविजल्पितं सखे न परमार्थेन गृह्यतां वचः**" (द्वितीय अङ्क)। विदूषक बुद्धिहीनता के कारण राजा की बात को सही मान लेता है—"**मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्।**"

वाचाल मित्र—विदूषक को मन्दबुद्धि कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसकी पात्रता अनुपयोगी है। वह राजा का अभिन्न वाचाल मित्र है। राजा अपनी गोपनीय बातें भी उससे बतलाता है और अवसरानुकूल उससे सहायता लेता है। पञ्चम अङ्क में हंसपदिका को सान्त्वना देने के लिये वह विदूषक को ही भेजता है—

"गच्छ । नागरिकवत्या सञ्ज्ञापयैनाम्" । द्वितीय अङ्क में अपनी माता से पास उसे ही प्रतिनिधि बनाकर भेजता है।

षष्ठ अङ्क में शोक-निमग्न राजा जब शकुन्तला के चित्र से अङ्कित भौंरे को वास्तविक भौंरा समझ लेता है, तब विदूषक ही उसे भ्रमर के चित्रगत होने का स्मरण दिलाता है—**"भोः चित्रं खल्वेतत् ।"** इस प्रकार से विदूषक **"पापान्निवारयति योजयते हिताय"** सन्मित्र के इस लक्षण के अनुसार वस्तुतः मित्र की सही भूमिका निभाता है। अपने आत्मीय मित्रों से बतला देने पर असह्य दुःख भी सह्य हो जाते हैं—**"स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति"** के अनुसार शकुन्तला की वियोगावस्था में राजा की व्यथा को कम करने का कार्य उसका मित्र विदूषक ही करता है।

वस्तुतः कालिदास का विदूषक हास्यकारी (हास्यकृच्च विदूषकः) ही नहीं है अपितु वह मनोरञ्जन के अतिरिक्त अन्य भूमिकाओं का भी निर्वाह अच्छी प्रकार करता है। वह "संपत्तौ च विपत्तौ च यः तिष्ठति स बान्धवः" के अनुसार राजा का स्नेही बन्धु है, जो सुख दुःख दोनों में छाया की भाँति उपस्थित रहता है। उसका मनोविनोद करता है और उचित परामर्श देता है। कालिदास की अनुपम नाट्यकला तो द्वितीय अङ्क में विदूषक को राजधानी भेजकर दुष्यन्त के शकुन्तला विषयक अनुराग को आगे बढ़ने का अवसर देती है तथा छठे अङ्क में मातलि के द्वारा विदूषक के ऊपर आक्रमण कराकर राजा में प्रेमभाव के स्थान पर वीरभाव का उद्बोध कराती है जिससे वह देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र की सहायता करने को उद्यत होता हैं। उक्त कार्यों से कथा-सूत्र में एक गतिशीलता आ जाती हैं।

महर्षि कण्व

अभिज्ञान-शाकुन्तल में में जिन तीन ऋषियों का चित्रण हुआ है वे हैं कण्व, दुर्वासा तथा मारीच। इन तीनों का अपना पृथक् व्यक्तित्व है। पर उसमें महर्षि कण्व की भूमिका सर्वाधिक महनीय है। यद्यपि महर्षि कण्व की उपस्थिति केवल चतुर्थ अङ्क में ही दृष्टिगोचर होती है पर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अङ्क में तापसकुमारों तथा ऋषि-कन्याओं तथा सप्तम अङ्क में मारीच आदि के द्वारा उनके विषय में कही गयी बातों से उनके व्यक्तित्व का आकलन हो जाता है।

१. कुलपति—महर्षि कण्व आश्रम के कुलगति हैं। कुलपति वह होता है जो दस सहस्र मुनियों का अन्नदानादि से पोषण करते हुए अध्यापन करता है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात् ।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ।।

उनके आश्रम (गुरुकुल) में अनेक शिष्य-शिष्यायें विद्याध्ययन में लीन हैं।

२. **त्रिकालज्ञ नैष्ठिक ब्रह्मचारी**—कश्यप गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उनका दूसरा नाम काश्यप है। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं—"**भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थितः-इति**"। अपनी अलौकिक तपस्या के प्रभाव से वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों का ज्ञान कर लेते हैं। तपःपूत मारीच भी उनके तपःप्रभाव के प्रशंसक हैं—"**तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्र भवतः**।" शकुन्तला की भावी विपत्ति का आभास उन्हें पहले ही हो गया था। इसीलिये वह उसके शमन हेतु सोमतीर्थ चले जाते हैं—"**दैवं प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः**" (प्रथम अङ्क), वहाँ से लौटने पर शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वृत्तान्त भी उन्हें अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी (दुष्यन्तेनाहितं तेजो.....४/४।) द्वारा ज्ञात हो जाता है।

३. **आध्यात्मिक प्रभावशाली**—आश्रम का वातावरण महर्षि कण्व की तपस्या के प्रभाव से सुतरां प्रभावित हैं। मनुष्यों की तो बात ही क्या, राक्षस भी उनके भय से यज्ञादि कर्मों में विघ्न नहीं पहुँचाते। उनकी अनुपस्थिति में ही वे विघ्न डालने का साहस करते हैं। उनके तपःप्रभाव का आकलन इसी से किया जा सकता है कि शकुन्तला की विदाई के समय तपोवन के वृक्ष भी माङ्गलिक रेशमी वस्त्र तथा आभूषण आदि प्रदान कर अपने को कृतार्थ समझते हैं—"**क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं**।" ४/६॥ जब प्रियंवदा इस बात से चिन्तित होती है कि उसकी सखी शकुन्तला के रूप के अनुरूप आश्रम-सुलभ अलङ्कार नहीं हैं, तभी दो ऋषिकुमार अलङ्कार आदि लेकर उपस्थित होते हैं। सभी सखियाँ उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो जाती हैं। गौतमी के कहने पर नारद नामक ऋषिकुमार कहता कि यह सब तात काश्यप के प्रभाव से ही सम्भव हो सका है—"**तातकाश्यपप्रभावात्**" (चतुर्थ अङ्क)। इस प्रकार महर्षि कण्व के व्यक्तित्व में तपस्याजनित अतिमानवीय तत्त्व की उपस्थिति सभी को आश्चर्यचकित कर देती है।

४. **लोकाचारज्ञता**—कण्व के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष विशेष रूप से विचारणीय एवं अभिनन्दनीय है। उनका सारा जीवन आश्रम में ही व्यतीत होता है पर उन्हें लौकिक व्यवहार एवं आचार का अनुभवपूर्ण ज्ञान है। उनके शास्त्रीय ज्ञान की परिणति क्रिया (व्यवहार) में हुई है। वे स्वयं अपने को लोकाचार का ज्ञाता बलताते हैं—"**वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्**" (चतुर्थ अङ्क)। चतुर्थ अङ्क में अपनी धर्मपुत्री शकुन्तला को दिया गया उनका उपदेश परिणय-सूत्र में बँधने वाली कुल-वधुओं के लिये सर्वथा ग्राह्य एवं हितकर है—**शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने.....कुलस्याधयः** ॥४/१८।

शार्ङ्गरव के माध्यम से दुष्यन्त के लिये वह सन्देश देते हैं कि उसमें भी उनके लौकिक ज्ञान की सूझ-बूझ पदे-पदे परिलक्षित होती हैं—**अस्मान् साधु विचिन्त्य....वाच्यं बधूबन्धुभिः** ॥४/१७॥

उनकी अनुपस्थिति में गान्धर्व विवाह के वृत्तान्त से सबसे अधिक भय अनसूया और प्रियंवदा को इसलिये था कि पिता कण्व उस वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या कहेंगे—

"**तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति**" चतुर्थोऽङ्कः। पर ज्यों ही उन्हें अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी से उक्त वृत्तान्त का ज्ञान हो जाता है त्यों ही वे शकुन्तला के पास जाकर अपना आशीर्वचन देते हैं और विवाह का अनुमोदन कर देते हैं—"तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम्। दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता॥"—चतुर्थोऽङ्कः। एक अप्सरा मेनका और महर्षि विश्वामित्र के संयोग से उत्पन्न अपनी धर्मपुत्री के लिये वह दुष्यन्त से अधिक योग्य वर क्या पा सकते थे? अतः अपनी पुत्री से उनका यह कथन—"**सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता**"—अङ्क ४; उनके व्यावहारिक ज्ञान में चार चाँद लगा देता है। शकुन्तला द्वारा की गयी भूल को दृष्टिगत कर वह उसके चाहने पर भी युवती अनसूया एवं प्रियंवदा को उसके साथ नहीं भेजते—"**वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्**'-चतुर्थोऽङ्कः।

५. वात्सल्यपूर्ण आदर्श पिता—कण्व यद्यपि नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं परन्तु वे एक आदर्श पिता की भूमिका का निर्वाह उसी निष्ठा से करते हैं जिस निष्ठा से गृहस्थ पिता। अनसूया, प्रियंवदा एवं शकुन्तला तीनों उन्हें पिता कह कर पुकारती हैं। वे वीतरागी तपस्वी हैं और लौकिक व्यवहारों के बन्धन से उनके तपोऽनुष्ठान में बाधा पड़ती है—"**वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्**"—चतुर्थोऽङ्कः। परन्तु लौकिक स्नेह-बन्धन से वे अपने को मुक्त नहीं कर पाते। शकुन्तला उनकी धर्मपुत्री है पर उसके प्रति उनका पुत्री का सा स्नेह है। वह उनके लिये प्राणों से भी प्रिय है—'**इमं जीवितसर्वस्वेनापि....**' प्रथम अङ्क (सखियों की उक्ति)।

शकुन्तला की विदाई के समय पुत्री-वियोग से व्यथित उनकी मनोव्यथा किसको व्यथित नहीं कर देती?—

"**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति.....विश्लेषदुःखैर्नवैः** ॥४/६॥

तपश्चर्या-पीड़ित अपने वियोग-विधुर पिता की करुणामयी दशा को देखकर शकुन्तला से भी नहीं रहा जाता और जब वह उन्हें अपने लिये शोक न करने के लिये कहती है—"**(भूयः पितरमाश्लिष्य) तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्माऽतिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व**"—चतुर्थं अङ्क। तब तो उनकी वेदना और भी वाचाल हो जाती है और लम्बी साँस लेकर वे कहते हैं कि 'बेटी, तेरे द्वारा पहले पूजा के रूप में डाले गये और अब कुटी के द्वार पर उगे हुए नीवार के उपहार को देखकर मेरा शोक भला कैसे शान्त हो सकेगा?—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥४/२१॥

तनया-वियोग से व्यथित पिता की यह कातरता धीरता को भी अधीर बना देती है। शकुन्तला को विदा देकर लौटते समय अनसूया और प्रियंवदा से "**गतवती वां सहचारिणी**"—(चतुर्थं अङ्क) इस कथन द्वारा वे अपनी आन्तरिक व्यथा को ही प्रकट करते हैं।

महर्षि स्नेहकातर होते हुए एक पिता के कर्तव्य एवं दायित्व को अच्छी प्रकार समझते हैं। "कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्" इस उक्ति के अनुसार वे कन्या को परकीय धन मानते हैं और परायी थाती को वास्तविक स्वामी के हाथों में सौंप कर निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।४/२२।।

इस प्रकार शाकुन्तल में एक ओर जहाँ वीतरागी महर्षि कण्व का तपःपूत एवं निर्विकार स्वरूप अंकित है, वहीं दूसरी ओर उनका लौकिक-व्यवहार ज्ञान-समन्वित आदर्श एवं स्नेहमय पिता का रूप चित्रित है।

गौतमी

नारी पात्रों में कण्व ऋषि की धर्म-भगिनी होने के नाते गौतमी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कण्व के आश्रम में वह सर्वाधिक वृद्धा तपस्विनी है। तपस्विनी होने पर भी उसमें नारी-सुलभ कोमलता है और उसका स्वभाव निश्छल एवं निष्कपट है।

१. सम्मानित महिला—महर्षि कण्व का गौतमी के प्रति सम्मानभाव है, इसीलिये वह उसे शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर भी भेजते हैं। उसमें अवस्था के अनुरूप गाम्भीर्य, सहिष्णुता एवं विवेक है। राजसभा में जब दुष्यन्त शकुन्तला के साथ अपने सम्बन्ध को अस्वीकार कर देता है तब वह निर्विकार भाव से शकुन्तला की निर्दोषता को प्रमाणित करने का प्रयास करती है—"**महाभाग नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्**' प० अङ्क। शकुन्तला का घूँघट हटाकर उसे स्वयं अपने सम्बन्ध को प्रमाणित करने का आदेश देती है। अनुभवपूर्ण गुरुजन की भाँति गुरुजनों तथा बन्धु-बान्धवों से पूछे बिना दोनों के प्रेम-सम्बन्ध को वह अनुचित मानती है।

२. वात्सल्यमयी—उसके हृदय में वात्सल्य का भाव ओत-प्रोत है। वह सब कुछ होने पर भी शार्ङ्गरव की भाँति शकुन्तला के प्रति क्रुद्ध नहीं होती। जब क्रुद्ध होकर शार्ङ्गरव और शारद्वत शकुन्तला को छोड़कर चल देते हैं और अपने प्रिय के द्वारा अपमानित होने पर शकुन्तला पीछे-पीछे चलने लगती है तो उस समय वात्सल्यभाव से अभिभूत होकर गौतमी के मुख से निकली यह उक्ति उसके हृदय की वात्सल्यमयी ममता की द्योतक है—"**वत्स शार्ङ्गरव अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु।**' पं० अंक।

३. अभिभाविका—कण्व के आश्रम में गौतमी अभिभावक की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि तापस कन्याओं की देखरेख का उत्तरदायित्व उसी का है।

प्रथम अङ्क में जब प्रियंवदा शकुन्तला से अत्यधिक परिहास करती है तो वह तंग आकर गौतमी से शिकायत करने की बात करती है—**'इयमसम्बद्धप्रलापिनी...गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।'**

शकुन्तला की अस्वस्थता का समाचार सुनकर वह शकुन्तला के लिए शान्ति-जल लाकर उसके ऊपर छिड़कती है और उसके पास पहुँचकर वात्सल्यभाव से पूछती है—**'जाते लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि ।'**

४. व्यवहारकुशला—विदाई के समय जब बार-बार शकुन्तला अपने धर्म-पिता से कुछ न कुछ कहती ही रहती है जिससे यात्रा में विलम्ब होता है तो उक्त अवसर पर गौतमी की यह उक्ति उसके हृदय की परिपक्वता, प्रौढ़ता एवं अनुभवपूर्णता की सूचक है—**'परिहीयते गमनवेला निवर्ततां भवान् ।'**

लोक-रीति के कारण पुत्री-वियोग के समय मातृ-पक्ष को न चाहते हुए भी इस प्रकार हृदय को कड़ा करना पड़ता है ।

यों गौतमी के चरित्र के विकास के लिए नाटक में पूर्ण अवसर नहीं है । फिर भी उसकी जो भूमिका है उसके आधार पर वह एक ऐसी तपःपूत आदर्श भारतीय महिला के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है जिसमें हृदय की स्वच्छता, सरलता, निश्छलता एवं विवेकशीलता विद्यमान है ।

महर्षि मारीच

१. आश्रयदाता—महर्षि मारीच का दूसरा नाम कश्यप है । महर्षि कश्यप बारह आदित्यों, वामनावतारधारी विष्णु और इन्द्र के पिता हैं । महर्षि कश्यप का अमित प्रभाव है । उनके आश्रम में तिरस्कृत और अनाथों को भी आश्रय मिलता है । पति द्वारा तिरस्कृत होने पर शकुन्तला को पुरोहित के घर से मेनका उन्हीं के आश्रम पर ले जाती हैं । वहीं भरत का जन्म होता है और उसका जात-कर्मादि संस्कार किया जाता है ।

२. वीतरागी—तपस्या-निरत वीतरागी महर्षि मारीच को सांसारिक भोगादि के प्रति कोई स्पृहा नहीं है । वे उस दिव्य लोक के निवासी है जहाँ स्वर्ग-सुलभ साधनों के विद्यमान रहते हुए भी ऋषि-गण उसकी उपेक्षा कर तपस्या में तल्लीन रहते हैं, सभी कामनाओं के पूरक कल्पवृक्ष की स्थिति में भी वे (ऋषि जन) वायु-भक्षण करते हैं तथा अप्सराओं के सामीप्य में भी निर्विकार भाव से नियम एवं व्रत का पालन करते हुए जीवन-यापन करते हैं ।

३. अमित प्रभावशाली—उनकी तपस्या का इतना अधिक प्रभाव है कि जिस व्यक्ति पर भविष्य में उनकी कृपा होने वाली होती है उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति पहले ही हो जाती है—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादान् पुरतस्तु सम्पदः ।।७/३० ।।

राक्षसों के विनाश के बाद आने पर राजा दुष्यन्त का मारीच के आश्रम में ही अपने पुत्र भरत और पत्नी शकुन्तला से सुखद मिलन होता है। महर्षि कश्यप तीनों को अपने आशीर्वाद से कृतार्थ करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुखद अवसान होता है। यद्यपि इस नाटक में महर्षि मारीच की उपस्थिति स्वल्पकालिक ही है तथापि वह बहुत महत्त्वपूर्ण इसीलिए है कि उसके द्वारा नाटक का उद्देश्य (दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन) पूर्ण हो जाता है।

उक्त पात्रों के अतिरिक्त शाकुन्तल में अन्य अनेक पात्रों की स्थिति है पर उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका न होने के कारण उनका चरित्र-चित्रण उपयोगी नहीं है।

शाकुन्तल में चित्रित तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति

साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसका अभिप्राय यही है कि जिस काल में जिस साहित्य का निर्माण होता है उस साहित्य में तत्कालीन समाज आदि की स्थिति भी (कवि के द्वारा) अनायास चित्रित हो जाती है। अतः शाकुन्तल में भी तत्कालीन समाज आदि का चित्रण स्वाभाविक है।

१. सामाजिक स्थिति—(क) **वर्णाश्रम व्यवस्था**—उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था अपने अस्तित्व में थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। ब्राह्मण का मुख्य कर्म अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञादि कृत्यों का सम्पादन था। महर्षि कण्व, मारीच आदि ऐसे ही ब्राह्मण महर्षि थे। क्षत्रिय लोग देश की रक्षा और शासन करते थे। प्रजापालन ही उनका मुख्य कर्त्तव्य था। दुष्यन्त ऐसे ही राजाओं में था। वैश्य वर्ग वाणिज्य-कर्म में लीन रहता था। उस समय वैश्यों को 'श्रेष्ठी' कहा जाता था, 'धनमित्र' भी ऐसा ही धनी वैश्य था। शूद्र का कर्म समाज की सेवा करना था। सभी लोग अपने वंशागत कर्म को करने में स्वाभिमान का अनुभव करते थे।

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।।६/१ ।।

(ख) **शिक्षा**—उस समय की शिक्षा-व्यवस्था आश्रमों के गुरुकुलों में होती थी। महर्षि कण्व का आश्रम भी एक गुरुकुल था। कुलपति की देखरेख में ब्रह्मचर्य धारण करते हुए शिष्य-शिष्यागण शिक्षा प्राप्त करते थे। शार्ङ्गरव, शारद्वत, अनसूया तथा प्रियंवदा आदि शिष्य-शिष्यायें कण्व के गुरुकुल में विद्याध्ययन करने में रत थीं। वृक्ष-सेचन आदि भी

उनकी दिनचर्या के अङ्ग थे। उस समय गुरुकुलों में अनध्याय भी होता था। आश्रम, गुरुकुल आदि शिक्षा के केन्द्र थे।

(ग) **विवाह**—उस समय गान्धर्व विवाह भी प्रचलित था। शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह हुआ था। विवाह के पश्चात् कन्या का पितृगृह में रहना अच्छा नहीं समझा जाता था। '**सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्**' ५/१७ इत्यादि कथनों से इसकी पुष्टि होती है। उस समय राजाओं में बहु विवाह की प्रथा का प्रचलन था—'**बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते**'। दुष्यन्त की अनेक पत्नियाँ थी। पति समेत अपने गुरुजनों की सेवा करना नारी का मुख्य कर्त्तव्य था।

महर्षि कण्व पतिगृह के लिए प्रस्थान करने वाली शकुन्तला को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वह अपनी सपत्नियों के साथ सखी जैसा व्यवहार करें—'**शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने**' ।४/१८। उस समय स्त्रियाँ पति के अधीन रहती थीं, यह तथ्य भी कण्व के उपदेश '**भर्त्तुर्विप्रकृता...**' इस कथन से आया है।

२. धार्मिक स्थिति—शाकुन्तल में धार्मिक-स्थिति का कोई विशेष चित्रण नहीं हुआ है। फिर भी उसके माध्यम से यह ज्ञात होता है कि उस समय यज्ञादि होते थे। (प्रथम अङ्क)। अनिष्ट-शान्ति आदि के लिये तीर्थ-यात्रायें भी होती थीं। शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिये महर्षि कण्व भी सोमतीर्थ की यात्रा करते हैं। '**दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः**' प्र० अं०। उस समय शकुनों पर भी लोगों का विश्वास था। दुष्यन्त की भुजा-स्फुरण—'**स्फुरति च बाहु.....**' १/१६, तथा शकुन्तला का नेत्र-स्फुरण—'**अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति**' (षष्ठ अङ्क) इसका प्रमाण है।

३. राजनैतिक स्थिति—उस समय 'राजतन्त्र' था। दुष्यन्त ऐसे ही राज-वंशी सम्राट् थे। प्रजा की रक्षा का भार राजाओं पर ही था।'**प्रजाः प्रजा इव....**५/५, '**कः पौरवे ....**' १/२४। 'तपस्वियों से 'कर' नहीं लिया जाता था '**यदुत्तिष्ठिति**' ।२/२३ उस समय रक्षी (पुलिस)की भी व्यवस्था थीं जिसका मुख्य कार्य अनुशासन बनाये रखना एवं अपराधियों को दण्डित करना था। रक्षी अपराधी को, अपराध स्वीकार न करने पर, मारते भी थे। वे आजकल की पुलिस की भाँति मदिरापान और उत्कोच ग्रहण (घूसलेना) में भी प्रवीण थे—

'**भट्टारक इतोऽर्थं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथम सौहृदमिष्यते**' (षष्ठ अङ्क)।

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार—नाटक का आरम्भ करने वाला प्रधान नट।

दुष्यन्त—नाटक का नायक, हस्तिनापुर का राजा।

सूत—दुष्यन्त का सारथि।

वैखानस—कण्व का शिष्य, तपस्वी।

भद्रसेन—दुष्यन्त का सेनापति।

विदूषक (माधव्य)—दुष्यन्त का अन्तरङ्ग मित्र।

रैवतक (दौवारिक)—द्वारपाल।

करभक—राजा के पास राजमाता का सन्देश पहुँचाने वाला एक दूत सेवक।

काश्यप (कण्व)—आश्रम के कुलपति।

शार्ङ्गरव और शारद्वत—कण्व के शिष्य, तपस्वी।

वैखानस, हारीत, गौतम और शिष्य—कण्व के शिष्य; तपस्वी।

कञ्चुकी (वातायन)—रनिवास की देख-भाल करने वाला एक वृद्ध ब्राह्मण।

वैतालिक—स्तुति-पाठक (चारण, भाट)।

श्याल—नगर-रक्षाधिकारी, राजा का साला।

धीवर—मछली पकड़ने वाला (मछुआ)।

सूचक और जानुक—पुलिस के सिपाही।

मातलि—इन्द्र का सारथि।

बालक (सर्वदमन)—भरत, दुष्यन्त का पुत्र।

मारीच—एक महर्षि, प्रजापति।

गालव—मारीच का शिष्य।

सोमरात—दुष्यन्त का पुरोहित।

स्त्री-पात्र

नटी—सूत्रधार की पत्नी।

शकुन्तला—नाटक की नायिका, दुष्यन्त की धर्मपत्नी, कण्व की धर्मपुत्री।

अनसूया और प्रियंवदा—शकुन्तला की अत्यन्त प्रिय और अन्तरङ्ग सखियाँ।

गौतमी—कण्व के आश्रम में रहने वाली वृद्धा तापसी।

प्रतीहारी (वेत्रवती)—द्वारपालिका।

सानुमती—एक अप्सरा, मेनका की सखी।

परभृतिका और मधुरिका—उद्यान-पालिकाएँ।

चतुरिका—राजा की सेविका।

तापसी—मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी।

अदिति (दाक्षायणी)—मारीच की पत्नी।

यवनी—राजा की एक सेविका।

तापसी (सुव्रता)—मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी।

अन्य पात्र

(नाटक के इन पात्रों का केवल नामोल्लेख हुआ है।)

मधवा (इन्द्र)—देवताओं के राजा, दुष्यन्त के मित्र।

जयन्त—इन्द्र का पुत्र।

इन्द्राणी—इन्द्र की पत्नी।

कौशिक (विश्वामित्र)—शकुन्तला के जनक (पिता)।

दुर्वासा—एक ऋषि।

मेनका—शकुन्तला की जननी (माता)।

●

शाकुन्तल की टीकायें

कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक लोकविश्रुत है। उन की इस कृति ने न केवल भारतीय विद्वानों, अपितु अनेकानेक प्राच्यविद्याविचक्षण पाश्चात्य विद्वानों, को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने उसके विषय में अपनी लेखनी का उपयोग किया है। सम्प्रति शाकुन्तल के अनेक संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं। उसकी अनेक टीकायें भी प्रकाशित हो चुकी है। कुछ टीकायें ऐसी भी हैं जो अभी तक अमुद्रित हैं। सम्प्रति शाकुन्तल की कुछ विशिष्ट टीकाओं के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है।

१. राघवभट्ट की टीका—यह टीका शाकुन्तल के नागर पाठ पर आधृत है। निर्णय सागर प्रेस से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस टीका का विशेष महत्त्व इसलिये है कि इसमें मातृगुप्त जैसे प्रख्यात आचार्यों के उद्धरण प्राप्त होते हैं। राघवभट्ट का समय सोलहवीं शताब्दी माना जाता है।

२. शंकर की टीका—शाकुन्तल के बंगीय पाठ पर आधारित शंकर की टीका ओटलिन लाइब्रेरी के विल्सन-संग्रह में उपलब्ध्ण है। बंगीय लिपि में लिखी गयी यह टीका अभी तक अप्रकाशित है। शंकर की ही 'रसचन्द्रिका' नाम की एक टीका मिथिला से प्रकाशित भी हो चुकी है। विल्सन-संग्रह में देवनागरी लिपि में लिखी टीका भी मिलती है।

३. चन्द्रशेखर की टीका—चन्द्रशेखर की एक टीका इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में मिलती है।

४. काट्य वेमभूपाल की टीका—काट्यवेमभूपाल की एक टीका भी परिज्ञात है, पर वह अभी तक अप्रकाशित है। यह टीका दाक्षिणात्य पाठ पर आश्रित है और इसकी एक पाण्डुलिपि देवनागरी लिपि में इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लंदन के 'केकेन्जी संग्रह' में उपलब्ध है। मोनियर विलियम ने अपने आंग्ल अनुवाद की टिप्पणी में इसके अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं।

उक्त टीकाओं के अतिरिक्त बालगोविन्द, अभिराम, दक्षिणावर्तनाथ तथा नीलकण्ठ की टीकायें भी मिलती हैं। इन चारों टीकाओं की पाण्डुलिपियाँ गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट, लाइब्रेरी, मद्रास में उपलब्ध है। नीलकण्ठ की टीका मूल के साथ अभी कुछ दिन पहले भारतीय बुक कारपोरेशन दिल्ली से प्रकाशित हुयी है। अन्य अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी शाकुन्तल की टीकायें लिखी हैं।

शाकुन्तल के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद—शाकुन्तल का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद सर जोंस ने १८७१ में किया था। उसी का जर्मन भाषा में रूपान्तर फोर्सटर ने किया।

यमशेजी का फ्रेंच अनुवाद, वाटलिन का जर्मन अनुवाद, हेमरिच का डैनिश अनुवाद तथा मोनियर विलियम्स का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। १९३४ में ए०वी० गजेन्द्रगडकर का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाश में आया। एम०आर०काले का अंग्रेजी अनुवाद तथा शारदारंजन राय का संस्कृत-टीका के साथ १९०८ में किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी उल्लेखनीय है। उक्त अनुवादों के अतिरिक्त हिन्दी समेत भारत की प्राचीन भाषाओं में भी शाकुन्तल के अनेक अनुवाद हुये हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शाकुन्तल के बंगीय पाठ तथा देवनागरी पाठ पर आधारित अनेक संस्करण भी प्राप्त होते हैं।

परिशिष्ट- १

अभिज्ञानशाकुन्तल के सुभाषित

अङ्क / श्लोक

१. अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते। २

१. कामभाव के सफल न होने पर भी दोनों की (प्रेमी एवं प्रेमिका) की परस्पर कामना, प्रीति को उत्पन्न करती है।

२. अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्। ६/१३

२. अचेतन वस्तु गुणों को नहीं देख सकती।

३. अज्ञातहृदयेस्वेवं वैरीभवति सौहृदम्। ५/२४

३. अज्ञात हृदय वाले लोगों के साथ किया गया प्रेम इसी प्रकार वैर के रूप में बदल जाता है अर्थात् दुःखद बन जाता है।

४. अतिस्नेहः पापशङ्की। ४/१९ के आगे

४. अत्यधिक प्रेम (अनुराग) पाप की शंका करता है, अर्थात् अत्यधिक स्नेह के कारण अनिष्ट की शंका हुआ करती है।

५. अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। १/१६

५. भावी (होनहार) घटनाओं के द्वार (मार्ग) सभी स्थानों पर हो जाते हैं। अर्थात् होनहार सर्वत्र होकर ही रहती है।

६. अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। ७/९ के आगे

६. कल्याण करने वाली वस्तुयें अनुल्लंघनीय होती हैं।

७. अनार्यः परदारव्यवहारः। ७/२० के आगे

७. पर-स्त्री के प्रति (पूछ-ताछ का) व्यवहार अनुचित है।

८. अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम। १/२६ के पहले

८. तपस्वी लोग निःसंकोच प्रश्न वाले होते है। अर्थात् तपस्वी लोगों से कोई भी प्रश्न निःसंकोच पूछा जा सकता है।

९. अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। ५/१३ के आगे

९. परस्त्री को ध्यानपूर्वक नहीं देखना चाहिये।

१०. अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्। ६/७

१०. अभागा हृदय अब पश्चात्ताप के दुःख का अनुभव करने के लिये जाग गया है (होश में आ गया है)।

११. अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु। ७/२ ६ श्लोक के आगे

११. अभ्युदय काल में यह कर्त्तव्य ही है।

१२. अरण्ये मया रुदितम्। २/३ के आगे

१२. (ऐसा प्रतीत होता है जैसे) मैंने अरण्य में ही रोदन किया अर्थात् मेरा निवेदन व्यर्थ ही रहा है।

१३. अर्थो हि कन्या परकीय एव। ४/२२

१३. वस्तुतः कन्या पराया धन ही है।

१४. अवश्यम्भाव्यचिन्तनीयः समागमो भवति। ६/११ के पहले

१४. अवश्यम्भावी समागम (मिलन) अचानक होता है।

१५. अवसरोपसर्पणीया राजानः। ६/१ के आगे

१५. राजाओं से अवसर देखकर ही मिलना चाहिये।

१६. अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। ५/२ के आगे

१६. यह लोकतंत्र का अधिकार विश्रामरहित होता है अर्थात् प्रजा-रक्षण तत्पर राजा के लिये विश्राम कहाँ ?

१७. अस्त्येतद् अन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्। १/२४ के आगे

१७. दूसरों की समाधि से भयभीत होना देवताओं का स्वभाव है।

१८. अहो कामी स्वतां पश्यति। २/२

१८. अहो, कामी (सर्वत्र) अपनी ही बात देखता है अर्थात् कामुक व्यक्ति चाही गयी नारी की प्रत्येक क्रिया (चेष्टा) को अपने ही अनुकूल मानता है।

१९. अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। १/२८ के पहले

१९. अहो, कामुकों (प्रेमियों) की मनोवृत्ति उनकी चेष्टाओं के अनुकूल ही होती है।

२०. अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। ३/२२ के पहले

२०. अहो ! अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति विघ्नों से युक्त होती है।

२१. अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। ६/६ के पहले

२१. सुन्दर आकृति वाले लोग सभी अवस्थाओं में सुन्दर लगते हैं।

२२. आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः । २/१६

२२. पुरुवंशी राजा विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के लिये अभय दान (यज्ञ में दीक्षित होते हैं) अर्थात् पुरुवंशी नरेश अपनों की रक्षा कर उन्हें निर्भय बना देते हैं।

२३. आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम्। ३/१५ के आगे

२३. राजा को अपने राज्य के निवासी आपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के कष्टों को दूर करने वाला होना चाहिये अर्थात् अपने राज्य के विपन्न व्यक्ति के कष्ट को दूर करना राजा का कर्त्तव्य है।

२४. आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। १/२७

२४. जिसको तुम अग्नि समझ रहे थे वह स्पर्श के योग्य रत्न है।

२५. इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते। ५/२१ के आगे

२४. स्त्रियों को प्रत्युत्पन्नमति (हाजिर जवाब) कहा जाता है।

२६. इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि। ४/३

२६. स्त्रियों का अपने प्रियतम के प्रवास से (वियोग से) उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य होता है।

२७. उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। ७/१२

२७. महान् लोगों की अभिलाषा (सदा) ऊर्ध्वगामिनी होती है।

२८. उत्सवप्रिया खलु मनुष्याः। ६/४ के आगे

२८. मनुष्य (स्वभावतः) उत्सव के प्रेमी होते है।

२९. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी। ५/२६

२९. पत्नी पर (पति की) सभी प्रकार की प्रभुता मानी जाती है।

३०. एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते। २/१ के आगे

३०. इस प्रकार अपने भावों के अनुसार अपने प्रिय व्यक्ति के मनोभावौं की कल्पना करने वाला (कामी) उपहास को प्राप्त होता है।

३१. एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनी नामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः। ५/२२ के पहले

३१. अपने कार्य को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के झूठे एवं मधुर वचनों से कामी पुरुष ही आकृष्ट किए जा सकते हैं।

३२. ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः। ४/१५ के आगे।

३२. (ऐसा सुना जाता है कि) जाने वाले प्रिय व्यक्ति का जलाशय तक अनुगमन करना चाहिये।

३३. क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति। ३/११ के आगे

३३. शरीर को शान्ति देने वाली शरत् कालीन चन्द्रिका (चाँदनी) को कौन अपने वस्त्र के अञ्चल से रोकता है अर्थात् सुखप्रद वस्तु को सभी लोग ग्रहण करते हैं।

३४. क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते। ३/९ के आगे

३४. आम्रवृक्ष को छोड़कर और कौन (वृक्ष) पल्लवित माधवी लता को सहरा दे सकता है।—३/१९ के आगे।

३५. कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति। ६/९ के पहले।

३५. सज्जन कभी भी शोक के वशीभूत नहीं होते।

३६. कष्टं खल्वनपत्यता। ६/२३ के पहले।

३६. सन्तानहीनता निश्चय ही कष्टदायिनी होती है।

३७. किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते। ३/९ के आगे

३७. उसमें क्या आश्चर्य है यदि विशाखा नामक तारिकायें (नक्षत्र) चन्द्रकला का अनुकरण करती हैं।

३८. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। १/२०

३८. मनोहर आकृति (शरीर) के लिये कौन सी वस्तु आभूषण नहीं बन जाती ? अर्थात् शरीर के लिये सभी वस्तु अलङ्कार बन जाती है।

३९. किमीश्वराणां परोक्षम्। ७/२६ के पहले

३९. ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिए कौन सी वस्तु परोक्ष (अज्ञात) होती है ? अर्थात् कोई नहीं।

४०. को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। ४/२ के पहले

४०. भला कौन व्यक्ति नवमालिका (चमेली) को उष्ण जल से सींचता है अर्थात् कोई नहीं।

४१. कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति। ४/१ के आगे

४१. अग्नि के अतिरिक्त और कौन (पदार्थ) जलाने में समर्थ हो सकता है।

४२. गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः। २/१ के पहले

४२. अब यह कपोल के ऊपर फोड़ा हो गया अर्थात् एक दुःख के ऊपर इतना दुःख आ गया।

४३. गुर्वेऽपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति। ४/१६

४३. आशा का बन्धन कठोर से कठोर वियोग के दुःख को सह्य बना देते है।

४४. ग्लपयति यथा शशाङ्को न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः। ३/१४

४४. दिन जिस प्रकार चन्द्रमा को प्रभाविहीन बनाता है उस प्रकार कुमुदिनी को नहीं।

४५. छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा। ७/३२

४५. धूल-धूसरित दर्पण में छाया (प्रतिबिम्ब) नहीं दिखायी देती, परन्तु (उस दर्पण) के स्वच्छ हों जाने पर उसमें प्रतिबिम्ब आसानी से दिखायी देता है।

४६. तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः। २/१३

४६. (राजाओं को कर के रूप में जो धन प्राप्त होता है वह विनष्ट हो जाता है) परन्तु तपस्वियों द्वारा उन्हें दिया जाने वाला तपस्या का षष्ठांश (छठां भाग) कभी नष्ट नहीं होता।

४७. तमस्तपति घर्मांशो कथमाविर्भविष्यति। ५/१४

४७. देदीप्यमान सूर्य के आगे अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है।

४८. तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। ४/२

४८. प्रातः काल में तेजद्वय (चन्द्रमा और सूर्य) के एक साथ (क्रमशः) अस्त एवं उदित होने से सम्पूर्ण संसार अपनी परिवर्तनीय अवस्थाओं के विषय में मानो नियमित (शिक्षित) किया जा रहा है अर्थात् यह शिक्षा मिल रही है कि संसार के सभी प्राणियों का उत्थान एवं पतन सम्भावित है।

४९. त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ। २/१७ के पहले

४९. त्रिशंकु की भाँति बीच में लटकिये।

५०. दूरीकृताः खुल गुणैरुद्यानलता वनलताभिः। १/१७

५०. जंगल की लाताओं ने अपने (सौन्दर्यादि) गुणों के द्वारा उपवन की लताओं को निश्चित रूप से तिरस्कृत कर दिया।

५१. न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम। ४/१७ के आगे

५१. निस्सन्देह, बुद्धिमानों के लिये कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं होती अर्थात् उन्हें सभी वस्तुयें ज्ञात होती है।

५२. ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः। ६/८ के आगे

५२. आँधी में भी निश्चय ही पर्वत अडिग रहते हैं।

५३. न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्। १/२५

५३. प्रभा से देदीप्यमान ज्योति भूतल से उत्पन्न नहीं हो सकती।

५४. प्रायः स्वमहिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः। ६/३१

५४. व्यक्ति, प्रायः किसी उत्तेजना के कारण ही अपनी महिमा को प्राप्त होता है अर्थात् किसी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर ही व्यक्ति के प्रभाव का प्रकाशन होता है।

५५. पूर्वावधीरित्तं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते। ७/१३

५५. पहले जिसका तिरस्कार कर दिया गया है ऐसी कल्याणकर वस्तु दुःख रूप में ही परिणत होती है, अर्थात् वह कठिनता से ही पुनः प्राप्त होती है।

५६. प्रबलतमसामेवं प्रायः शुभेषु हि वृत्तयः। ७/२४

५६. शुभ (मङ्गलमय) वस्तुओं के विषय में प्रबल तमोगुणी लोगों की प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हो जाती हैं।

५७. बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः। १/२

५७. विशेषरूप से शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने ऊपर (अपने ज्ञान के विषय में) विश्वास नहीं कर पाता।

५८. बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। ३/१६ के आगे

५८. ऐसा सुना जाता है कि राजाओं की अनेक पत्नियाँ होती है।

५९. भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्। ५/१२

५९. फल के लग जाने पर वृक्ष झुक जाते हैं, नवीन जल भर जाने पर बादल नीचे आ जाते हैं, इसी प्रकार सज्जन समृद्धियों को पाकर विनम्र हो जाते हैं। यह परोपकारी जनों का स्वभाव ही है।

६०. भवितव्यता खलु बलवती। ६/८ के आगे

६०. भवितव्यता (होनहार) बलवान् होती है।

६१. भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। १/१६

६१. भावी घटनाओं के द्वार सभी स्थानों पर हो जाते हैं अर्थात् होनहार होकर रहती है।

६२. भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः। ४/१७

६२. इससे अधिक भाग्य के अधीन है। उसके आगे निश्चय ही कन्या के सम्बन्धियों (भाई-बन्धुओं) को नहीं कहना चाहिये।

६३. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। ५/२

६३. पूर्वजन्मों के प्रणय सम्बन्ध संस्कार रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं।

६४. मनोरथा नाम तटप्रपाताः। ६/१०

६४. मनोरथ (नदी के) तट के पतन के समान होते हैं अर्थात् जिस प्रकार नदी के तीर गिर जाने पर पुनः नहीं जुड़ते उसी प्रकार मनोरथ एक बार भङ्ग हो जाने पर पूर्ण नहीं होते हैं।

६५. मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति। १/२०

६५. चन्द्रमा का काला कलङ्क (धब्बा) भी उसकी शोभा को बढ़ाता है।

६६. मूर्च्छन्त्यमी विकारा: प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु। ५/१८ के आगे

६६. ऐश्वर्य से मदोन्मत्त लोगों के हृदय में ही (किये गये कार्यों के प्रति द्वेषादि) विकार (विकृत भावना) प्राय: बढ़ते रहते हैं।

६७. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरोद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्। २/८ के आगे

६७. जिस प्रकार पिण्ड खजूर (उत्तमकोटिक खजूर) से ऊबे हुये किसी व्यक्ति की इमली (तिन्तिणी) में इच्छा होती है अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति उत्तमकोटिक खजूर खाने से ऊबकर निकृष्ट इमली खाने की इच्छा करे)।

६८. रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था:। ६/८ के पहले

६८. अनर्थ (विपत्तियाँ) छिद्र (दोष) पाकर आ घेरते हैं। अर्थात् 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' के अनुसार विपत्ति के आने पर अन्य विपत्तियाँ स्वत: आ जाती है।

६९. राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम। १/२३ के आगे

६९. तपोवन राजा के द्वारा रक्षणीय होते हैं अर्थात् राजाओं को तपोवनों की रक्षा करनी चाहिये।

७०. राज्ञां तु चरितार्थता दु:खोत्तरैव। ५/५ के आगे

७०. राजाओं की सफलता कष्टप्रद ही होती है अर्थात् एक कार्यमें सफल होने पर राजा को दूसरे कार्य का बोझ उठाना ही पड़ता है।

७१. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुराप: कथमीप्सितो भवेत्। ३/११

७१. (लक्ष्मी को) चाहने वाला व्यक्ति उसे प्राप्त भी कर सकता हैं और नहीं भी प्राप्त कर सकता है, परन्तु लक्ष्मी जिस व्यक्ति को चाहे वह भला दुष्प्राप्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् अभीष्ट व्यक्ति लक्ष्मी के लिये सर्वथा सुलभ ही है।

७२. वयं तत्त्वान्वेशान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती। १/२३

७२. हम (दुष्यन्त) तो तथ्य का पता लगाने में ही मारे गये, पर मधुकर तुम निश्चय ही (अपने लक्ष्य की प्राप्ति में) सफल रहे।

७३. वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्ति:। ५/२८

७३. जितेन्द्रिय व्यक्तियों की मनोवृत्ति परस्त्री सम्पर्क से विमुख रहती है।

७४. विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भ: प्रतीकारस्य। ३/६ के आगे

७४. विकार (रोग) को सम्यक् जाने बिना उसके प्रतिकार (चिकित्सा) का आरम्भ नहीं करना चाहिये।

७५. विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। १/१५ के आगे

७५. विनीत (साधु) वेष धारण कर ही तपोवनों में प्रवेश करना चाहिये।

७६. विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति। ३/१५ के आगे

७६. विवक्षित बात को यदि न कहा जाय तो वह पश्चात्ताप पैदा करती है।

७७. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। १/२२

७७. सन्दिग्ध वस्तुओं से सम्बन्धित (कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में) सज्जनों के अन्तःकरणकी प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं अर्थात् किसी कार्य में सन्देह होने पर सज्जनों को अपने आत्मा के निर्देशानुसार कार्य करना चाहिये।

७८. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।

७८. सिवार से आच्छन्न होने पर भी कमल रमणीय (मनोहर) ही होता है।

७९. सर्वं कान्तमात्मीयं पश्यति। २/७ के आगे

७९. सभी लोग अपने को सुन्दर समझते हैं।

८०. सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। ५/५ के आगे

८०. सभी प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तु को पाकर सुखी होते हैं।

८१. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। ५/२१ के आगे

८१. सभी लोग अपने साथियों (सहवासियों) पर विश्वास करते हैं।

८२. सहजः किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। ६/१

८२. निन्दित होने पर भी सहज (वंशपरम्पराप्राप्त) कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये।

८३. सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ३/९ के आगे

८३. महानदी सागर को छोड़कर अन्यत्र कहाँ गिरती (मिलती) हैं।

८४. सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्। ७/४

८४. महान् कार्यों में भी नियोजित (सेवक) जो सफल होते हैः उसे स्वामियों के गौरव का गुण ही समझना चाहिये।

८५. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु सन्दृश्यते किमुत वा प्रतिबोधवत्यः। ५/२२

८५. मानवेतर जाति की स्त्रियों में भी जब शिक्षा के बिना चातुर्य दिखायी देता है तो ज्ञानसम्पन्न (मानवीय) नारियों का क्या कहना ? अर्थात् मानवीय नारियों में शिक्षा के बिना चातुर्य होना स्वाभाविक है।

८६. स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति। ३/७ के आगे

८६. (अपने) स्नेही जनों में बंटकर दुःख की पीड़ा सहनीय हो जाती है अर्थात् निकटवर्ती जनों के सान्त्वनादिमूलक वचनों से दुःख की पीड़ा हलकी हो जाती है।

८७. स्रजमपि शिरस्कन्धक्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया। ७/२४

८७. अन्धा व्यक्ति सिर पर डाली गयी पुष्प माला को भी (सर्प के भ्रम में) फेंक देता है।

८८. स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। ५/१४ के आगे

८८. सिद्धिमान् (सिद्धिवाले) लोगों की कुशलता उनके अधीन होती है।

८९. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। ६/२८

८९. (जल मिश्रित दूध में से) हंस दूध को ले लेता है और उसमें मिश्रित जल को छोड़ देता है।

परिशिष्ट-२

कालिदास विषयक प्रशस्तियाँ

१. अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छित्तिरीतिरसा।
प्रस्तुतरससंदोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य ।। (कस्यापि)

२. अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव प्रकामहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ।। (श्रीकृष्णकवि)

३. अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते। (आनन्दवर्धनाचार्य : ध्वन्यालोकः)

४. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।। (कस्यापि)

५. उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।। (कस्यापि)

६. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।। (राजशेखरः सूक्तिमुक्तावली)

७. कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशः ।। (मल्लिनाथः)

८. कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम्। (भट्टपादाः)

९. कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति ।। (कस्यापि)

१०. कालिदासकविता नवं वयः माहिषं दधि सशर्करं पयः।
शारदेन्दुकला च कोमला स्वर्गसौख्यमुपभुञ्जते नराः।। (उद्भटः)

११. ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चन्द्रमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ।। (सोड्ढलः)

१२. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।। (बाण : हर्षचरितम्)

१३. पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव। (कस्यापि)

१४. पुष्पेषु चम्पा नगरीषु काञ्ची नदीषु गङ्गा नृवरेषु रामः।
नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः काव्येषु माघः कविकालिदासः॥

१५. भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयम्।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम्॥

१६. महाकविकालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
यज्जाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बितम्॥

१७. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरः
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥ (जयदेवः प्रसन्नराघवम्)

१८. येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिनाजिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्ति : कविताश्रितकालिदासभारविकीतिः॥ (ऐहोलशिलालेखः)

१९. रसभारभरोद्भिन्नां भारतीममरादृते।
श्रीमतः कालिदासस्य विज्ञातुं कः क्षमः पुमान्॥ (स्थिरदेवः)

२०. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्। (दण्डी-अवन्तिसुन्दरीकथा)

२१. वयमपि कवयः कवयः कालिदासाद्याः।
दृषदो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः॥ (कस्यापि)

२२. वाल्मीकेरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम्॥ (कस्यापि)

२३. वाल्मीकिमिव सभासं यशः शरीरेण सर्वदा सन्तम्।
रसवद्वचनविकासं नमत कविं कालिदासं तम्॥

२४. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते। (कस्यापि)

२५. श्रीकालिदासकविवर्यसरस्वतीयं
किं वर्णयाम्यतितरां रसवाहिनीति।
यत्कालिका भगवती शुचिभावयोगाद्
यस्यामहो मुहुरनुग्रहमादधाति॥ (बिठो बाअण्णा सुश्लोकलाघव)

२६. श्रीकालिदासस्य वचो विचार्य नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे ।
किं परिजातं परिहृत्य हन्त भृङ्गालिरानन्दति सिन्दुवारे ।। (कस्यापि)

२७. साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रसलीलाकालिदासोक्ती ।। (गोर्वर्धनाचार्य : आर्यासप्तशती)

२८. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ।। (क्षेमेन्द्रः सुवृत्ततिलकम्)



परिशिष्ट- ३

शाकुन्तलविषयक प्रशस्तियाँ

१. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।। (कस्यापि)

२. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला ।। (कस्यापि)

३. शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वोत्कृष्ट इति प्रथा ।
न सर्वसंमता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः । (कस्यापि)

४. वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ।।

(महाकवि गेटेः म०म० वासुदेव निरासी कृतानुवादः)



शारदा प्रकाशन, फैजाबाद